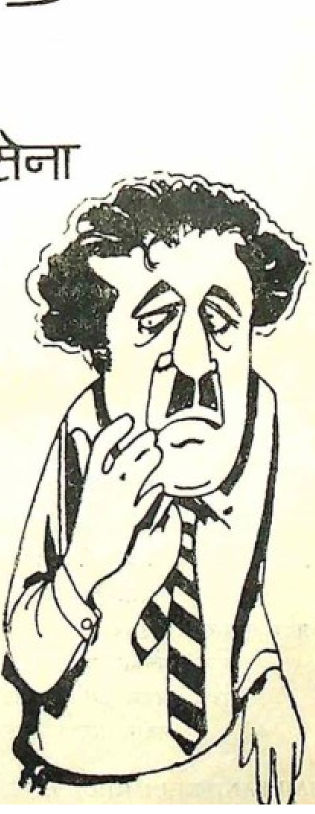
बाजूबंद खुल-खुल जाए

आलेख प्रकाशन, दिल्ली

बाजूबंद खुल-खुल जाए

के॰पी॰ सक्सेना



दो शब्द

कुछ चीजें होती ही ऐसी हैं कि जितना कसो, उतनी ही खुलती चली जाती हैं। मसलन, बाजूबंद।...बाजूबंद की संगीतमय शान इसी में है कि...खुल-खुल जाए।...तंग आकर मॉडर्न लेडीजात ने बाजूबंद बांधना ही छोड़ दिया।...बाजूबंद की स्पेलिंग भी याद न रही। मगर बाजूबंद अभी सलामत है···खुल-खुल जा रहा है।...आजादी के 37 वर्षों में लगातार खुल-खुल जाने वाला बाजूबंद। बाजूबंद जो व्यवस्था है...नैतिकता है...धर्म है...राजनीति है...पुलिस है...आस्था है...शिक्षा है...भ्रष्टाचार है...समाज है...मनोरजंन है...चिन्तन है। हर बार कसने की कोशिश में खुल-खुल जाने वाला बाजूबंद।...इमेज बनाए रखने के लिए बाजूबंद जैसा अंलकार जरूरी भी है...मगर कस नहीं पाता। साढ़े तीन दशक से ऊपर बीत गये इस मरे बाजूबंद को कसते-कसते। मगर जरा-सी थिरकन हुई और बाजूबंद खुल गया। कसने और खुलने की इसी अंतहीन क्रिया के दौरान जन्मी ताजा व्यंग्य रचनाएं।...अच्छी लगें तो आपकी...वरना ढीले बाजूबंद जैसी अलग रख दें। मैं पुन: कसने की कोशिश करूंगा।...यह सोचकर पढ़ें की बाजूबंद की नियति खुल-खुल जाना ही है।...जो कसा रह गया वह बाजूबंद नहीं हो सकता।...

आपका

के॰ पी॰ सक्सेना

अनुक्रम

आत्महत्या वाली पहली किताब

मिर्जा मियां बेहद परेशान और जल्दबाजी में थे। ऐसा,लग रहा था कि जैसे गार्ड से कहकर प्लेटफार्म पर ट्रेन रुकवा आये हों, कि मैं अभी आता हूं। हड़बड़ाकर सोफे पर जूतियां समेट उकड़ूं बैठ गये और अंदर इकट्ठी की गयी सारी सांस छोड़ते हुए बोले, "भई, एक किताब चाहिए! फौरन से पेश्तर मिल सके तो अच्छा है।...मेरे पास टाइम नहीं है।..."

मैं जरा चुहल के मूड में था। मेज तले पड़ी बच्चे की पहली बाल-पोथी उनकी गोद में रखकर कहा, "लो! तब तक इससे काम चलाओ। जब पढ़ चुको तो बताना... दूसरी मंगवा दूंगा। ..."

मिर्जा का पारा तैश में थर्मामीटर से बाहर आ गया। बालपोथी लगभग चबाते हुए बोले, "खुदा कसम कोई और वक्त होता तो इस चुहलबाजी के जवाब में वह टिकट लगी हुई रसीद देता कि तबीयत तर-बतर हो जाती। मगर इस वक्त गरज मेरी अटकी है।...किताबों के मामले में तुम जरा पैदायशी कबाड़ी हो। वह कोई यूरोप में एक किताब छपी है हाल में—'हाउ कैन मेक सुसाइड'...यानी खुदकशी कैसे करें? ...सुना है कि इस किताब में आत्महत्या के नये, नायाब, मजबूत और आरामदेह तरीके बताये गये हैं। हजारों कापियां बिक चुकी हैं। 'स्वैच्छिक मृत्यु आनंद सोसायटी' ने इसे छापा है।...पिछले डेढ़ बरस में बीसेक खुशनसीब इस किताब के जरिये आसानी से जन्नतनशीन (स्वर्गीय) हो चुके हैं!... केस-वेस चला किताब पर, मगर नामंजूर!... बस, मुझे तड़ से एक कापी चाहिए।... पास रहेगी तो मरने का मूड होते ही किताब कंसल्ट कर लूंगा।... तुम्हारी कसम, कभी-कभी मरने को बहुत

दिल मचलता है!···मगर आत्महत्या के मौजूदा तरीके इस कदर घटिया और तकलीफदेह हैं कि इरादा टाल देना पड़ता है।...मुझे वह किताब चाहिए। चाहे वी० पी० पी० से मंगवा दो, या नमूने के तौर पर मुफ्त!... कहो तो रकम पेशगी भेज दूं।... आत्महत्या के मामले में मैं किसीका एहसान नहीं चाहता।"

"देखो, मिर्जा, मैं खुद तुम्हारी इस मनहूस जिंदगी से आजिज आकर चाहता हूं कि आत्महत्या अनुष्ठान तुम जल्द से जल्द निपटा डालो। मगर इल्लत यही है कि हवाई जहाज की ऊंचाई से गिरकर भी तुम समाप्त नहीं होओगे...बल्कि शेरवानी झाड़कर उठ खड़े होओगे! ऐसी सख्त और बेशर्म जान के लिए किताब क्या पूरी आत्महत्या-लाइब्रेरी कम है। बेकार पैसे बर्बाद मत करो। चुपचाप जाकर जिंदा रहो और अटरम-सटरम बाजारी मिठाइयां भकोसते रहो।...हमारे मुकद्दर में जब तक तुम्हें झेलना लिखा है, झेलेंगे।...अब कृपया सीट खाली करो! मेरे नाश्ते का टाइम है।"

मिर्जा बुझते चूने जैसे सनसना उठे। फिर मुंह के सारे बकाया दांत पीसते हुए बोले, "तुम्हारी दोस्ती से अच्छा था कि एक ईंट पाल लेता! टूटे नाबदान में लगने के काम आ जाती। मैं चाहता था कि जिस तरह 'हाउ टु विन फ्रेंड्स...'वाली किताब पढ़कर मैंने तुम्हारी मनहूस दोस्ती की थी, उसी तरह इस नई किताब की मदद से फारिग हो जाऊं। ... तुमसे मुझे यह उम्मीद न थी कि एक जरा-सी आत्महत्या वाली किताब दिलवाने पर बगलें झांकने लगोगे। लानत है!..."

"खबरदार मिर्जा, जो दोस्ती पर शक किया! तुम जब कहो मैं तुम्हें ठिकाने लगवाकर कब्र पर तुम्हारी फोटो जड़वा दूं। मगर यह आत्महत्या के लिए पूरी पोथी की क्या जरूरत है आखिर?"

"भई, मुझे स्टडी करनी है। मैं हर काम सलीके से करना चाहता हूं। टुच्ची किस्म की आत्महत्या मुझे पसंद नहीं कि रस्सी फंसाई और खत्म हो गये!...गर्दन पर किस कदर खराशें आ जाती हैं! इंसान मरने के बाद किसी को मुंह दिखाने लायक नहीं रहता। आत्महत्या का एक मूड होता है, एक वजह होती है, एक शरीफाना कोड आफ कंडक्ट होता है! ...जैसा मूड हो वैसा ही तरीका अपनाना चाहिए। यह थोड़ा ही है कि

कहा-सुनी बीवी से हुई और कट मरे रेलगाड़ी के आगे ! रेलगाड़ी और बीवी की क्या रिलेशनशिप ?...खुदा न खास्ता ट्रेन चार घंटे लेट हो गई तो भूखे ही मर गये ! यह सब बोदापन है।...सुना है कि इस किताब में हर किस्म की आत्महत्या का एक शरीफाना तरीका दर्ज है। पहले तो यही स्टडी करना जरूरी है कि फलां-फलां वजह पर आत्महत्या की ग्राउंड बनती है या नहीं।...आखिर स्टडी कर लेने में क्या हर्ज है ?...कोई यह थोड़ा है कि किताब खत्म करते ही मैं कफन लपेटकर कब्र में घुस जाऊंगा !...एक सहूलियत रहेगी कि हां, आत्महत्या के मुनासिब तरीके याद हैं। जब मूड होगा...जरूरत महसूस करेंगे, कर लेंगे। मुझे यह कतई पसंद नहीं कि इधर आत्महत्या का वक्त निकला जा रहा है, उधर बक्स में किताब ढूंढ़ रहे हैं !...भई, मंगवा दो किताब..."

"मिर्जा ! क्या तुमने इस किताब की बाबत भाभीजान से सलाह की है ?"

'खामोश ! मैं तुम जैसा अहमक और अकल से पैदल नहीं हूं !...किताब के पैसे मैं खर्च करूं और फायदा वह उठा लें ? हर्गिज नहीं, अपनी-अपनी खुदकशी, अपनी-अपनी किताब !...आपसी मुहब्बत इसे कहते हैं कि शादी के साल-भर बाद ही हम दोनों को ऐसी किताब की जरूरत महसूस होने लगी !... मगर उस वक्त तक यह छपी ही नहीं थी !...इंतजार ही इंतजार में, खुदा के फजल से, हम दोनों छह बच्चों के मां-बाप हो गये !...अब छपी है तो आप नखरेबाजी कर रहे हैं। आप मुझे जुगराफिये (भूगोल) की कोई किताब दीजिये। मैं खुद यूरोप का रास्ता देखकर खरीद लाऊंगा।"

"मुझपर भरोसा रखो, मिर्जा ! मैं किताब भी मंगवा दूंगा और खुदकशी में तुम्हारी हत्तुलइमकान (यथासंभव) मदद भी कर दूंगा ! बस, मुझे सिर्फ अंदाजन इतना बता दो कि किताब पूरी पढ़ चुकने के लगभग कितने दिन बाद मुझे अपने जनाजे को कंधा लगाने का मुबारक मौका दोगे ?...यों ही...अंदाजन..."

मिर्जा पुनः दांत पीसकर उछले और आंखों ही आंखों में मुझे चबाते हुए बोले :

"मुझे भी तुम्हारी मनहूस दोस्ती से छुटकारा पाने की उतनी ही जल्दी है जितनी तुम्हें है। मगर यह खुदकशी है, कोई सरकारी प्रोजेक्ट नहीं कि आज पैसा मंजूर हुआ तो प्रोजेक्ट इतने अर्से में पूरा हो जायेगा ? मुझ पर कोई पाबंदी नहीं है कि किताब पढ़कर उसी बजट पीरियड में मैं आत्महत्या कर ही लूं !...आखिरी बार पूछता हूं कि तुम अपने सोर्स से किताब मंगाते हो या मैं खुद केज्युअल लीव बर्बाद करके यूरोप वगैरा जाऊं ?...किताब आनी है, यह समझ लो !..."

तभी अचानक मेरे पड़ोसी और मिर्जा के विभागीय सहकर्मी संतासिंह फनफनाते हुए दाखिल हुए और मिर्जा पर तीन. हर्फ लानत फेंककर बोले, 'ओय मिरजे, तू इत्थे बैठा गप्पा लगा रहा है। उत्थे दफ्तर चों (आफिस में) तेरे परमोशन दा आर्डर आ गया !...चल ओय, लस्सी-लुस्सी दा परबंध कर !"

मिर्जा जूतियों समेत उछले और मेरा मुंह चूम लिया। मैंने किताब की याद दिलायी तो बोले, "उफ् !...अबे मनहूस ! नया ग्रेड तो ले लेने दे !...खुदकशी के लिए गर्दन कहीं भागी जा रही है क्या ?..." छड़ी घुमाते हुए मिर्जा यह जा, वह जा...!

मैं सोचता ही रह गया, मित्रो, कि छोटे आदमी की खुशियां भी कितनी छोटी-छोटी होती हैं !...एक लौ की तरह भभकती हैं और जिंदा रहने की नई राहें रोशन कर जाती हैं !

खुदा खुद परेशान है बेचारा....

कभी-कभी मेरे दिल में ख्याल आता है कि अगर अपनी इस सुजलां सुफलां भारत भूमि पर पुलिस न होती...तफतीश और वारंट की पतित पावन परम्परा न होती, तो देश आज किस गड्ढे में पड़ा होता ? इधर आप रिपोर्ट लिखाओ, उधर पुलिस तड़ से ऐक्शन में आ गई। जिसकी गर्दन मुट्ठी के नाप की मिली उसे मुजरिम करार दे दिया और थाने में ले जाकर उसका श्री अभिषेक कर दिया। मसलन फैजाबाद के गोसाईंगंज थाने के अन्तर्गत एक मियां रमजान ने खुदा के खिलाफ रिपोर्ट लिखाई कि खुदा उन्हें १२ साल से लगातार परेशान कर रहा है। आप खुदा को पकड़कर ठिकाने लगा दो। पुलिस की एक मूंछ फड़क उठी। खुदा की यह मजाल कि रमजान को परेशान करे ? फट से छूट निकले खुदा की तलाश में। प्रशासनिक अधिकारी ने तहसीलदार को खुदा की तलाश का हुक्म दिया। एक सिपाही खुदा की तलाश में निकल पड़ा। मगर खुदा न हाथ लगा, न उसने आत्मसमर्पण किया। रमजान मियां ने ऊपर वालों से अपील की कि पुलिस वाले खुदा से मिल गए हैं और उसे गिरफ्तार नहीं कर रहे हैं...बहरहाल, रिपोर्ट अभी दर्ज है, और खुदा फरार है... शायद डर से कि अगर धर लिया गया, तो उसकी जमानत कौन लेगा ?... ऐसे ही मौकों पर खुदा फंस जाता है और कोई खुदा खुदा को बचाने नहीं आता।

खुदा को पुलिस की इल्लत में फंसे देखकर पहली बार मुझे खुदा पर रहम आया। अच्छी-भली खुदाई चल रही थी...मगर बंदे ने उसे लफड़े में फंसा दिया। खुदा की भी आंखें खुल जाएंगी अब कि बंदे को

परेशान करने का क्या नतीजा होता है। पुलिस के वहां देर है, अन्धेर नहीं। एक दिन खुदा जरूर पकड़ में आएगा...फिर पेशियां होंगी... तारीखें पड़ेंगी और रमजान मियां बनाम खुदा मियां...एक अन्तहीन केस चलेगा। खुदा जाने कि बेचारा खुदा अपनी पैरवी के लिए वकील की फीस कहां से लाएगा ? पेशकार और चपरासी वगैरह के चाय-पानी का बंदोबस्त कहां से करेगा ?...हार जाने पर हाई कोर्ट में अपील किसका घर बेचकर करेगा ?...नहीं साहब, खुदा की यह परेशानी मुझसे नहीं देखी जाती। काश, खुदा चुपचाप मेरे पास चला आता तो मैं कुछेक लोकल रहनुमाओं का प्रेशर डलवाकर केस पुलिस की फाइल में ही इल्ले-तिल्ले करवा देता। मगर खुदा में इतनी बुद्धि कहां कि वक्त की नब्ज को पहचाने ? फरार हालत में इधर-उधर भागता फिरेगा, मगर यह नहीं कि कुछ दे-लेकर।...

नेकी और बदी की फिक्र खुदा को भी होने लगी ? जब रमजान मियां को बारह साल तक सताया तब यह नहीं सोचा कि खुदाई के अलावा भारतीय पुलिस भी कोई चीज होती है ?...कानून और व्यवस्था के हाथ कितने लम्बे हैं ?...हो सकता है कि खुदा पढ़ा-लिखा हो...समाचार-पत्र पढ़ता हो...और एक दिन खुद को थाने के हाथों सौंप दे कि...लो दरोगा जी, मैं आ गया। सरे तस्लीम खम है, जो मिजाजे यार में आए।... मगर नहीं, जहां तक मेरी मोटी बुद्धि साथ देती है, खुदा के सामने छवि का प्रश्न है। खुदा जानता है कि थानों में अच्छों-अच्छों की छवि ड्राई-क्लीन कर दी जाती है। 'रमजान मियां आफ फैजाबाद' को भी जाने क्या सूझी कि बैठे-ठाले खुदा को इल्लत में फंसा दिया। ...वह जानते हैं कि खुदा भले ही रमजान मियां को माफ कर दे, मगर पुलिस खुदा को हर्गिज नहीं माफ करेगी। खुदा कोई वी० आई० पी० नहीं है कि उसके साथ दूसरे ढंग का सुलूक किया जाए। यों ही अगर पुलिस खुदा को खुदा मानती रहे तो हो चुकी पुलिस की नौकरी।...रोजनामचा किसीके साथ मुरव्वत नहीं करता। होंगे खुदा अपने घर के...कानून की निगाह में सब बराबर हैं। जिनसे पुलिस डरती है उनके खिलाफ केस दर्ज ही नहीं करती। मगर चूंकि खुदा के खिलाफ रपट लिखी जा चुकी है, सो

साबित हुआ कि पुलिस अपनी ड्यूटी अंजाम देते वक्त खुदा से भी खौफ नहीं खाती। बस यहीं पर मैं पुलिस की समदर्शिता पर मर मिटता हूं।...

खुदा से मैं इसी कारण सहमत नहीं हूं कि वह फरार है। चुपचाप आकर केस लड़ ले तो हो सकता है कि जीत हो जाए...या रमजान मियां ही कम्प्रोमाइज करके खुदा के खिलाफ दर्ज कराया गया केस उठा लें। अब वक्त आ गया है कि कोई खुदा का बंदा चुपचाप खुदा को तलाश करके उसे कानूनी बारीकियां समझा दे और खुदा बाइज्जत-आबरू अपनी खुदाई संभाल ले।...मैं चूंकि खुदा और पुलिस दोनों से डरता हूं, सो चाहता हूं कि इन दो बड़ी ताकतों का कानूनी टकराव टल जाए।... न मैं खुदा को परास्त होते देख सकता हूं न पुलिस को।...रमजान मियां ने मेरे सामने बड़ी टेढ़ी स्थिति पैदा कर दी है।...हो सकता है कि इस बीच रमजान मियां खुदा के खिलाफ कुछ चश्मदीद गवाह भी इकट्ठे कर चुके हों। मगर खुदा कहां से गवाह लाएगा?...आड़े मौके पर लोग खुदा को गवाह बना लेते हैं, मगर खुदा का गवाह बनने को कोई तैयार न होगा। राम जाने...आई मीन, खुदा जाने कि रमजान बनाम खुदा का यह केस किस करवट बैठेगा?...या खुदा, तू खुद पर रहम कर।...

उसकी क्रिकेट, मेरी क्रिकेट....

मेरे दादा जी चिराग की रोशनी में शतरंज खेलते थे, पिता जी चांदनी रात में पतंग उड़ाने का शौक फरमाते थे...मैं बिजली के बल्बों की रोशनी में क्रिकेट देख रहा हूं। मैंने सपने में भी नहीं सोचा था कि क्रिकेट एक दिन बिजली की लाइट में खेला जाएगा। तरक्की इसे कहते हैं कि एक तरफ देश का कुछ हिस्सा बाढ़ और दंगों में डूब रहा है और दूसरा हिस्सा बिजली की दूधिया रोशनी में रंगीन पोशाकें पहनकर क्रिकेट खेल रहा है। गम और खुशी साथ-साथ। जहर और अमृत एक ही प्याले में। क्रिकेट में हारना अभी तक हमारा राष्ट्रीय गौरव था। अब हम परम्परा बदल रहे हैं। बहुत देर हार चुके अब जीतना चाहिए। कितनी ही गेंदें रगड़-रगड़कर पतलूनें चौपट कर चुके। अब कुछेक मैचें जीतकर हमें पतलूनों की धुलाई की कीमत वसूल करनी है। विश्व कप जीत लाए। अब कुछ दिन उस कप की चमक बनाए रखनी है। प्रधानमंत्री राहत कोष के लिए हमने एक दिन का लालटेनी क्रिकेट खेला पाकिस्तान के साथ। क्रिकेट के खेल में यही अच्छी बात है कि उसका देश की हालत से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। पाकिस्तान खुद अंगारों पर सुलग रहा है, मगर क्रिकेट चालू है। भारत में पंजाब, असम, कश्मीर में हाय-हाय मची है, मगर क्रिकेट चालू है। इसे कहते हैं कलेजा। वाजिद अली शाह अभी बाकायदा जिंदा हैं। नवाब ने अंग्रेजों के खिलाफ तोप इस लिए नहीं चलवाई क्योंकि तोप की नली में उनकी प्यारी बटेर ने अंडे दे रखे थे। लड़ाइयां भले ही हार जाएं हम, मगर शान नहीं जाने देंगे हम। जब तक पांव में मखमल की जूती नहीं पहन लेते, तलवार नहीं उठाएंगे। आपको

दिल्ली के इस 'वन-डे' बिजली-क्रिकेट पर कोई ऐतराज नहीं होना चाहिए। राहत-कोप के लिए खेला गया था। पचहत्तर हजार लोगों ने बिजली के हजारों बल्बों की रोशनी में भारत को एक विकेट से जीतते देखा। गौतम, गांधी, नानक और शिवाजी के देश के लिए इससे बड़ा गौरव क्या हो सकता है कि वह एक विकेट से जीत जाए। सच्चाई, ईमान, जन-कल्याण और व्यवस्था की दौड़ में हारे हुए देशों को क्रिकेट के रनों की दौड़ से तसल्ली हो जाती है। भूख, गरीबी और अभावों से खाली पेटों पर क्रिकेट की कमेंटरी, डबल रोटी और मक्खन का काम करती है। रोजगारों की आंच में जलते हुए बेकार नौजवान रंगीन टी० वी० पर कीर्ति आजाद और मदन लाल के छक्के देखकर अपनी बेकार डिग्रियों का गम भूल जाते हैं। बाढ़ में डूबे हुए धान के पौधे सैलाब में लहलहा उठते हैं कपिल देव की बौलिंग देखकर। जिन गांवों और गलियों में बिजली का अभाव है, वे यह सोचकर ही तसल्ली कर लेते हैं कि कम से कम दिल्ली में कई हजार वाट की रोशनी में ही क्रिकेट खेला जा रहा है। सारी खुदाई एक तरफ, क्रिकेट की लेग बाई एक तरफ। एक खोखलेपन को भरने के लिए दूसरा खोखलापन क्रिकेट के रूप में जिंदा है। भूख और फसाद के जख्मों पर क्रिकेट का मरहम रखना कोई हमसे सीखे, पाकिस्तान से सीखे। जिन देशों का विकास नहीं हुआ है, गरीब हैं, वे क्रिकेट नहीं खेलते। मसलन रूस और अमरीका। उन्हें दूसरे देशों की टीमें लड़ाने से ही फुरसत नहीं कि क्रिकेट खेलें। हम सम्पन्न हैं, आत्म-निर्भर हैं। टेस्ट मैच के दौरान पूरे पांच दिनों के लिए सारे राष्ट्र का काम-काज ठप्प करके देश को दांव पर लगा सकते हैं। जिन्हें अंग्रेजों के जमाने में रैट माने बिल्ली नहीं आता, वो भी रेडियो कमेंटरी के आगे हिज मास्टर्स वायस के कुत्ते जैसा मुंह उठाए बैठे रहते हैं। इसे ही कहते हैं मुल्क की शान। पंजाब में छक्का पड़ता है तो महाराष्ट्र का सुनने वाला यूं ही खुशी से उछल पड़ता है, जैसे पंजाब समस्या हल हो गई हो। बम्बई में हम एक विकेट ले लेते हैं तो यू० पी० वाला यूं नाचता है जैसे पूर्वी उत्तर प्रदेश के बाढ़ में डूबते हुए गांव पुनः खुशहाल हो गए हों। इसे कहते हैं राष्ट्रीय एकता। जो काम लीडरों की स्पीचें न कर सकीं, उसे कीर्ति

आजाद और संदीप पाटिल कर दिखाते हैं। काश, इस देश की राजनीति भी क्रिकेट खिलाड़ियों को सौंप दी गई होती ! जीत न पाते तो कम से कम ड्रा तो कर ही लेते। हार भी जाते तो दोष मौसम की खराबी या गलत अम्पायरिंग के सिर मढ़ देते।

बहरहाल वन-डे मैच की शानदार सफलता से यह साबित हुआ है कि दिल्ली एक खुशहाल देश की खुशहाल राजधानी है और हमारे पास इतनी फालतू बिजली है कि हम रात में सूरज उगा सकते हैं। अब भी आपमें से जो साहब भारत को एक अभावग्रस्त देश मानते हों, वे अपना पता मुझे भेज दें। मैं भविष्य में रात के अंधेरे को दिन बनाकर खेला गया मैच उन्हें दिखाने ले चलूंगा। रूस और अमरीका खेलें कहां से क्रिकेट ? न उनके पास इतनी सफेद पतलूनें हैं, न इतनी बिजली, न ही इतने दीवाने फालतू लोग हैं। सम्पन्नता का यह गर्व हमारी ही सुजलां-सुफलां धरती को हासिल है जो बाढ़ में डूब भी सकती है और क्रिकेट के पिच भी सुखा सकती है। आप हों न हों, मैं क्रिकेट का शुक्रगुजार हूं... कमेंटरी के चौके-छक्के चंद लम्हों को भुला देते हैं कि हम कौन हैं, क्या हैं, आजादी के ३६ बरसों में कहां से कहां आ पहुंचे हैं। क्रिकेट के बारे में मरहूम 'फिराक' का एक शेर :

यह जिंदगी की कड़ी धूप, याद आता है
तेरी निगाहे-करम का घना साया।

अथ श्री भैंसा महासम्मान युग

दहेजविरोधी पोस्टर, माइकतोड़ मंच और हलक-फाड़ अभियानों के बावजूद मैं अभी यह फैसला नहीं कर पाया हूं कि बीवी और भैंस में ज्यादा महत्त्वपूर्ण कौन है ? सिर्फ वजन की बात होती तो मैं भैंस के पक्ष में फैसला दे देता...मगर कल्चरल दृष्टिकोण भी सामने रखना पड़ता है। भैंस का सिर्फ एग्रीकल्चरल पक्ष मजबूत होता है...जब कि बीवी हर पक्ष से बीवी ही होती है। आप भैंस के आगे बीन या प्यानो तक बजा सकते हैं...भैंस तटस्थ रहेगी ! बीवी की मौजूदगी में आदमी सीटी तक बजाने को तरस जाता है। जिन-जिनने कोशिश की है उनका अपना तबला बजने की नौबत आ गई है। खैर...।

मगर कभी-कभी ऐसी भी नौबत आती है कि भैंस के खुर पूजने पड़ते हैं और उसके वैभव का लोहा मानना पड़ता है ! मसलन, हमारे यू० पी० में ही बहराइच के सिसिया थाना क्षेत्र में एक हुई श्रीमती मीना कुमारी। उनके पिता ने विवाह के समय दामाद को एक भैंस देने का वादा किया··· नहीं दे पाए। दामाद महोदय ने नेपाल ले जाकर पुष्कर राजा के हाथों पत्नी को तीन हजार में बेच दिया और भैंस खरीद ली तड़ से।...मीना कुमारी के पिता को जब घपला पता लगा तो तीन हजार रुपए अदा करके पुत्री को छुड़ा लिया और पुलिस जी से अपने दामाद के विरुद्ध मुकदमा चलाने की मांग की ! अब बोलिए आप, कि बीवी बड़ी या भैंस ?...

सन् तिरपन के आस-पास जब मैं विवाह की वीर-गति को प्राप्त हुआ था, तब दूल्हे और भैंस के बाजार भाव में कोई पांच रुपए का फर्क था। प्रायः होता यह था कि ग्रामीण क्षेत्रों में आदमी पैसा बांधकर निकलता

था बेटी के लिए वर खरीदने और लौट आता था मेले से भैंस खरीदकर ! ...वह जानता था कि अच्छी नस्ल की भैंस कभी-कभी ही मिलती है, जब कि दूल्हे की न कोई नस्ल होती है, न उससे गोबर उपलब्ध होता है। अतः प्राचीन काल से चले आ रहे भैंस महत्त्व को आप नकार नहीं सकते !

अब आप कृपया ध्यान से नजर भरकर देख लें।...हमारा देश जो है वह एक भैंस (तथा भैंसा) प्रधान देश है।...नाना प्रकार के भैंसे तथा भैंसें, शरीर का क्षेत्रफल फुलाए, मजे में जुगाली कर रहे हैं। इनके कानों पर न बीन का असर है, न नगाड़ों का, न घेराव का प्रभाव है, न नारों का। काहे से कि भैंस अगर सेंटीमेंटल हो जाए तो अपना भैंसत्व खो बैठती है। ···अपने ही नगर के रास्तों पर मैंने अनेकानेक प्रजातांत्रिक भैंसे चरते हुए देखे हैं !...'लबों पर नर्म मुस्कानें, दिलों में खौलती साजिश...है कितना फर्क बाहर और भीतर की कहानी में।' आप इन श्री भैंसों को उनके त्याग और जनकल्याण के श्री पथ से डिगा नहीं सकते !...इन्हें जो करना है, कर गुजरेंगे। कब किसके खेत में जाकर मुंह मार दें, आप नहीं कह सकते। ···छत्तीस वर्ष की तपस्या का श्रीफल मिल रहा है इन्हें।...

कभी-कभार इनके पशु मेले भी सजते हैं। पंडालों में गद्देदार यानों से बंधे हुए एक से एक दुर्लभ भैंसे !...एक से एक विनम्र थूथन !···इनके निरीह मखमली सींग देखकर आप सोच भी नहीं सकते कि ये सींग मार सकते हैं। मगर पैने सींगों का रक्तरंजित इतिहास इनकी पृष्ठभूमि में सजा रहता है। भैंसे अपना जुल्म भूल सकते हैं...आदमी की स्मरण-शक्ति इतनी कमजोर नहीं होती।...नई-नई लोकतांत्रिक चरागाहें तलाशते रहना ही इन भैंसों के जीवन का परम लक्ष्य है।...दूसरे के हिस्से की घास इन्हें अपनी घास से ज्यादा सब्ज नजर आती है। प्रांतीय सीमाओं में ये कभी नहीं बंधते ! विध्वंस और विनाश के सांस्कृतिक अनुष्ठानों में सदा आगे ! देशहित के नाम की जुगाली करते हुए कितने ही सुहाग... कितने ही घरों की खुशियां चबा गए और चेहरे की मोटी खाल पर शिकन न आई ! इनके बछड़ों और छौनों की अपनी अलग आस्थाएं हैं। जन्म से ही भैंसा संस्कृति इनके साथ बंध जाती है, और दूध पीने की उम्र में ही 'देश-हित' की बातें सोचने लगते हैं।...अपने नन्हे-नन्हे सींग पहले कालेजों

और विश्वविद्यालयों की दीवारों से टकराते हैं, फिर राजधानियों में कुलांचें भरते हुए बड़े-बड़े भैंसों का संरक्षण प्राप्त कर लेते हैं। खुर मजबूत करने के लिए अर्थहीन पद-यात्राएं और समाज-सेवा। समाज कहता रहता है कि भैया, आप हमारी सेवा मत करें। मगर नहीं।...सेवा के लिए ही जनमे हैं हम। पहले चूहों की हत्या करेंगे, फिर उन्हें होश में लाने के लिए गोबर सुंघाएंगे!...समाज कल्याण के नाम पर पहले समाज को अपने खुरों से रौंदना जरूरी है। वरना कल्याण किसका करेंगे?...जब तक बलात्कार होगा नहीं, जांच कमेटी किसलिए बैठेगी?...भैंसा संस्कृति की अपनी अलग मजबूरियां हैं जिन्हें हम-आप नहीं समझ सकते।...सींग जो नहीं हैं हमारे पास!

कुल मिलाकर, ऐ दोस्त! पशुपालन के परम पुनीत दौर से गुजर रहे हैं हम-आप। हमारे पूर्वजों ने जितनी सेवा गोमाता की नहीं की, उससे कहीं अधिक हम 'भैंसा-अंकलों' की कर रहे हैं।...हर पशु का अपना अलग एक आस्था-युग होता है। आज भैंसों का मूल्यांकन मात्र हरियाणा में नहीं, पूरे देश में हो रहा है।...एक से बढ़कर एक राजनीतिक डेरियां खुल रही हैं जिनके दूध-मक्खन का परम सौभाग्य भैंसा-कुल को ही प्राप्त हो रहा है। हमें सिर्फ चारे का बंदोबस्त करना रह गया है, जो हम कर रहे हैं...मान-मर्यादा देकर...प्राण देकर!...

बुनता है उम्र-भर में....

सर्दियां तेज हो गई थीं, एक दिन मिर्जा मियां फिफ्टी परसेण्ट स्वेटर डाटे हुए, फड़फड़ाते दाखिल हुए। पीछे-पीछे ऊन का गोला, किसी नेता के भाई-भतीजे जैसा, साथ-साथ लुढ़कता चला आ रहा था। मिर्जा सिर्फ अगला पल्ला पहने हुए थे जो नए टैक्सों के ऐलान जैसा गले में फंसा था। कन्धों पर ऊन लिपटी हुई थी। पहले मैं समझा कि शायद मिर्जा के सीने में ठण्ड की खुनकी समा गई है इसीलिए आधा स्वेटर पहने हैं।

मेरी परेशानी भांपकर मिर्जा खुद बोले, "आंखें फाड़-फाड़कर क्या देख रहे हो? मेरी मर्जी कि मैं एक पल्ला पहनूं या सिर्फ बार्डर पहनकर चला आऊं! इस पर कोई दफा लागू होती है क्या? मियां-बीवी की प्यार-मुहब्बत है, जितना उसने पहना दिया, उतना हमने पहन लिया। खुदा चाहेगा तो एक दिन पूरा स्वेटर पहन लेंगे। मिल्क का जला बटर-मिल्क फूंक-फूंककर पीता है। वह हुआ यों कि पिछले साल तुम्हारी भावज को मुझ पर जरा एडीशनल प्यार आ गया था। ताबड़तोड़ एक स्वेटर बुन डाला कि उनका सुहाग कहीं ठण्ड न खा जाए। स्वेटर तैयार होने पर जब मैं उसमें दाखिल हुआ तब पता चला कि घुटनों से नीचे तक उतर आया है। इतना ढीला-ढाला और दरियादिल किस्म का स्वेटर बन गया था कि वक्त-जरूरत मैं अपने अलावा एकाध मोहल्ले वाले को भी उसमें पनाह दे सकता था। तुम्हारी भावज कहने लगीं कि पहन डालो! धुलने पर छोटा हो जाएगा। मैं पहने रहा और जब तक धुलने की नौबत न आई, मैं केज्युअल लीव बढ़ाता गया। घर में कैद रहा। डर था कि कहीं कोई जान-पहचानी यह फरमाइश न कर बैठे कि ऐसा ही उदार और झोल-

झप्प स्वेटर हमारे लिए भी बुनवा दो। फिर मैं एक दिन स्वेटर पहने-पहने नहा लिया। अब जो जरा सूखता हूं तो देखता क्या हूं कि स्वेटर, कीमतों की ग्राफ लाइन-जैसा, तेजी से ऊपर चढ़ रहा है। आदमी के ईमान की तरह ऊन सिकुड़ती चली जा रही है। आखिरकार स्वेटर सीने पर आकर ठहर गया। फिर एक जंग शुरू हुई। बच्चे मुझे खींच रहे थे, बेगम स्वेटर खींच रही थीं। उफ, न जाने कैसे मैंने उस स्वेटरनुमा फांसी से निजात पाई। बाद में ठूंसठांस कर उस शर्म से दोहरे, सिकुड़े हुए स्वेटर को बेगम ने सबसे छोटे नूरचश्म के गले में फंसा दिया। उन्होंने महसूस किया कि ऊन जरा घटिया थी और फन्दे कुछ ज्यादा पड़ गए थे चुनांचे इस मरतबा बेगम फूंक-फूंक कर कदम रख रही हैं, और हर आधा इंच बुन जाने पर मेरे बदन पर तान देती हैं। मुझे सीना फुलाने, जोर-जोर से खांसने, घण्टों सांस रोके रहने और बाजू घुमाते रहने का हुक्म होता है कि स्वेटर का नाप सही रहे और हर तरह के हालात में फिटिंग सही रहे। क्या समझे?"

यद्यपि मुझे किसी किस्म की फन्देबाजी का शौक नहीं, फिर भी मैंने मिर्जा के स्वेटर (पार्ट वन) की बुनाई गौर से देखी। एम० एस-सी० तक जितने पशु-पक्षी और पेड़-पौधे पढ़े थे, सब याद कर डाले। बुनाई की डिजाइन में कुछ ऐसे जीव-जन्तु डाले गए थे जो कम-से-कम हिन्दुस्तान में नजर नहीं आते। मजबूरन मैंने मिर्जा से पूछा कि बुनाई के फूल किस पौधे के हैं?

"उफ, तुम नहीं समझोगे। एक सौ चवालिस स्वेटरों की बुनाई का निचोड़ है यह डिजाइन। मेरे लिए एक पल्ला बुनने के इश्क में उन्होंने दूर-दराज रिश्तेदारी तक के स्वेटर उतरवा लिए और रात-रात-भर बुनाई का काम वह करती रहीं। वह क्या कहते हैं हिन्दी में, हां अध्ययन! बाद में यह जो बुनाई हाथ लगी है, यह मुल्तानिया पैसीफ्लोरा. के फूलों की तस्वीर है। ये फूल सुना है कि कहीं मुल्तान में होते हैं, जिन्हें आज तक मुल्तान वाले खुद तलाश कर रहे हैं। कालान्तर में बेगम जब स्वेटर का पार्ट टू यानी पीठ बुनेंगी तो उस पर खालिस हिन्दुस्तानी फूल होंगे। गोया, मुकम्मल होने पर यह नायाब स्वेटर 'इण्डो-पाक कलचरल यूनिटी' की एक

मिसाल साबित होगा।"

यह पूछे जाने पर कि मिर्जा सिर्फ एक ही पल्ले में ऊन के गोले समेत, इस निर्माणाधीन स्वेटर को उतारे बगैर क्यों निकल पड़े, मिर्जा बमक उठे, "तुम क्या जानो कि रुहानी इश्क क्या होता है? जो चीज इतनी मेहनत और मोहब्बत से उन्होंने हम पर चढ़ाई है, उसे उतार फेंकें? हमें जरा बाजार से मसूर की दाल लाने की जल्दी थी। इस पल्ले को उतारने में एक उम्र लग जाती। सो सोचा कि लाओ, पल्ले-गोले समेत ही बाजार हो आएं। जमाना देख ले कि शाहजहां और मुमताज बीवी का इश्क अभी जिन्दा है। बेहतर होगा कि गोला तुम सम्भाल लो और हमारे पीछे-पीछे बाजार तक चले आओ।"

अभी हम गोला उठाकर झाड़-पोंछ ही रहे थे कि हमारी भावज (बेगम मिर्जा) बुर्के की छांव तले तैश में फुंकारती हुई दाखिल हुईं और किचिन में दाखिल होकर हमारी बीवी को भी घसीट लाईं। सारी पृष्ठ-भूमि उन्हें समझाई और मिर्जा को वो-वो धुली-पुंछी सुनाई कि अगले का पाटिया गुल और ढिबरी टाइट हो गई। बेगम भाभी के टोटल गुस्से का सारांश यह था कि अक्ल के नाम पर पैदल मिर्जा, जल्दबाजी में बच्चे के स्वेटर का पल्ला डाट आए थे, और अपने स्वेटर के पल्ले में सलाइयों समेत बच्चे को लपेट कर रख आए थे। दोनों ही 'अण्डर कन्स्ट्रकशन' स्वेटरों का डिजाइन एक था और पुरानी उधड़ी हुई धुली ऊन से बन रहे थे।

मिर्जा सिर झुकाए बगलें झांक रहे थे, और मैं सोच रहा था कि जब बच्चे के स्वेटर का पल्ला मिर्जा पर फिट आ गया तब मिर्जा के स्वेटर का पल्ला बच्चे पर सही क्यों नहीं उतरा? क्या आज के दौर में बाप-बेटों में पल्ले-भर मुहब्बत भी बाकी नहीं रह गई!

बच्चों का ऊंट

ऊंट और ऊंट में कोई फर्क नहीं होता...मगर बच्चों और बच्चों में फर्क होता है। बच्चे अमीर और गरीब होते हैं...भूखे और सजे-धजे होते हैं...मगर ऊंट हमेशा नंगा होता है! ऊंट अमीर और गरीब कभी नहीं होता!...आजादी के इन महत्त्वपूर्ण ३६ वर्षों का असर बच्चों पर भले ही पड़ा हो...ऊंटों पर नहीं पड़ा। ऊंट के बारे में एक पंजाबी कहावत है कि 'जट चालीस दा...बोता पैंतालीस दा'...बोता ऊंट के बच्चे को कहते हैं! अतः ऊंट के बच्चे की कीमत हमेशा ऊंट से ज्यादा होती है! इन्सानों में सिर्फ राजनीतिक बच्चों की कीमत ही ज्यादा होती है। आम आदमी का अभावग्रस्त बच्चा दो कौड़ी का।...न खाने को, न पहनने को...बिना वजह पृथ्वी पर आने का पाप भोगता है आदमी का बच्चा। ...अब आप कृपया ऊंटों और बच्चों की एक घटना सुनो...

दिल्ली और जयपुर के बीच राष्ट्रीय मार्ग पर टूरिस्टों के मनोरंजन के लिए राजस्थान टूरिस्ट डेवलपमेंट कारपोरेशन ने 'मिड वे' नाम का एक उम्दा रेस्त्रां बनाया हुआ है। यों भी भूख के देश में आलीशान रेस्त्रां बनाना एक अच्छी बात है। यहां बच्चों के लिए ऊंट की सवारी की व्यवस्था है। यह भी एक अच्छी बात है। बचपन रहते तक ही बच्चा ऊंट की सवारी कर सकता है। बड़ा होने पर राजनीति और व्यवस्था के ऊंट आदमी की पीठ पर सवार हो जाते हैं और देश धीरे-धीरे आगे बढ़ने लगता है। खैर...पिछले दिनों दिल्ली के माडर्न स्कूल के बच्चों का एक दल बस से जयपुर जा रहा था। बच्चे इस रेस्त्रां में उतर गये और ऊंट की सवारी करने लगे। थोड़ी ही देर में जाने किसने कैसी हवा फूंक दी कि बच्चों को

ऊंट से उतार दिया गया...पैसे वापस कर दिए गए और ऊंट की सवारी बन्द हो गई। अब चक्कर क्या था कि एक सहकारी उच्च अधिकारी अपनी बच्ची के साथ आए हुए थे जो ऊंट की सवारी की जिद कर रही थी। अतः साधारण बच्चों को ऊंट से उतारकर ऊंट किसी खास 'बच्ची' के लिए रिजर्व कर दिया गया। इस घटना पर न बच्चों ने बुरा माना, न ऊंट ने। दोनों ही जानते थे शायद कि 'बाल दिवस' का स्वांग रचाने वाले इस देश में, बच्चे और बच्चे में जमीन और आसमान का फर्क होता है।... कुछ बच्चे जन्म से ही मुंह में चांदी का चम्मच और सत्ता का शहद लेकर पैदा होते हैं। शेष सारे बच्चे सिर्फ भूख और अभावों की गर्द लेकर जन्म लेते हैं। ये 'घटिया' बच्चे न बाल दिवसों की रौनक बन सकते हैं, न ही ऊंट की सवारी के योग्य होते हैं। दिल्ली के माडर्न स्कूल के बच्चे फिर भी अच्छे खाते-पीते घरानों के हैं। उन्हें भी ऊंट की सवारी के आनन्द से वंचित कर दिया अफसरशाही ने! अब जरा उस बच्चे के बारे में सोचिए जो अध-नंगा है...भूखा है...सिर्फ बच्चा कहलाने का अपराधी है। वह सिर्फ दूर से यह देख सकता है कि ऊंट कैसे होता है और 'बड़े' बच्चे इस पर कैसे सवारी करते हैं। घुटी हुई लालसाओं का यही जहर आगे चलकर अभाव-ग्रस्त बच्चों को अपराधी बनाता है तो हम कहते हैं कि बाल-अपराध बढ़ रहे हैं।...यही नन्हे-नन्हे कुचले हुए अरमान एक दिन जहर और समाज-विरोध का घिनौना ज्वालामुखी बन जाते हैं। आप किसी बच्चे से उसकी रोटी छीन सकते हैं...मिट्टी का खिलौना छीन सकते हैं...मगर उसके मन की नन्ही-नन्ही कामनाएं नहीं छीन सकते। कल जो लोग इस बच्चे को वोट की लाइन में खड़ा करेंगे, वे आज इसे दो क्षण ऊंट की सवारी या मिट्टी की एक छोटी-सी चिड़िया देने से क्यों कतराते हैं?...कितनी बाल संस्थाएं...कितने ही शिशु केन्द्र एवं बाल सुधार गृह अपने बड़े-बड़े बोर्ड खोखले ढोलों जैसे लटकाए बैठे हैं, पर देश का आम बच्चा आज भी उतना ही रीता है जितना अपने बचपन में मैं था। बच्चे के हिस्से में, इन ३६ वर्षों में सिफ तिरंगे झण्डे की तस्वीर आई है जिसके रंग देखकर वह खुश हो लेता है। कहां हैं वे लोग जो कहते हैं कि इस देश से 'बाल-श्रम' (चाइल्ड लेबर) खत्म हो रहा है? ठंड में ठिठुरते हजारों मासूम आज भी

ईंटें ढो रहे हैं...गाड़ी खींच रहे हैं...दूसरों के बर्तन मांज रहे हैं। दूसरों की फेंकी हुई जूठन ही इन बच्चों के हिस्से का प्रजातंत्र है...आजादी है।... महाकवि मिल्टन ने एक बार कहा था कि मैं कई-कई जन्म सिर्फ बच्चा बने रहने को तैयार हूं...शर्त यह है कि मुझे एक बच्चे की तरह भरपूर जीने का अधिकार मिले। मिल्टन नहीं रहे इस संसार में...सिर्फ कामना रह गई जो आज अधिकांश बच्चों के चेहरे पर एक सपना बनकर मंडराती रहती है।...बच्चे ऊंट को देखते हैं, ऊंट बच्चों को देखता है...दोनों के बीच में एक सम्पूर्ण समाजवाद की दूरी है। खुली कारों पर से सड़क के बच्चों पर माला फेंकना और बात है...बन्द कोठरियों में उनके पेट की भूख और तन की बीमारी आंकना और बात है।...मदर टेरेसा जैसी हमदर्द हस्तियां सदियों में कहीं एक पैदा होती हैं।—३६ वर्ष से गाल बजाए जा रहे हैं बाल कल्याण के नाम पर। मजदूर का बेटा मजदूर और भिखारी का बेटा भिखारी ही पैदा हो रहा है। भूख के ढेर पर भूख ही जन्म ले रही है।...अधिकारों की होड़-सी लगी है। जिसके पास नन्हे बच्चों को ऊंट पर से उतार सकने का अधिकार है, वह उसी का भरपूर उपयोग कर रहा है। एक अपने बच्चे की खुशी के लिए कितने ही बच्चों की आंखों से खुशी की चमक छीनी जा रही है! यह उपलब्धि हैं नेहरू के सपनों की! ...मैं देश के मामले में टांग अड़ाना नहीं चाहता। जिनका देश है वे देश को जिधर चाहें मोड़ ले जाएं। मगर बच्चों के मामले में बोलने का मुझे हक है। मैं बच्चों का लेखक हूं...खुद बच्चा रह चुका हूं...बच्चों के अध-बुने सपनों की एक पूरी दुनिया देखी है मैंने।...इन अरमानों से खेलता है कोई तो मन कसक उठता है। आप भले ही बाल संग्रहालय, बाल उद्यान, ऊंट और हाथी-घोड़े हटा लो! मगर जब तक ये हैं, इन पर सब बच्चों का समान हक है! अफसरशाही के पांव पसारने को और भी जमीनें हैं! चंद बच्चों के चेहरों की हंसी छीनकर अफसरशाही सुर्खरू नहीं होती...स्याह और बदनाम हो जाती है।...बच्चों के भोले मन तो यों भी भी सब कुछ बहुत जल्द भूल जाते हैं! बच्चे जो ठहरे!

आंसुओं का बैंक बैलेंस

अभी तक मैं भी यही समझता था कि आंसुओं की कोई कीमत नहीं होती...बस, यूं ही फोकट में बह जाते हैं।...मगर नहीं, केलीफोनिया की एक लेडी किलीरिन मार्गरेट ने मरते-मरते मेरा भ्रम दूर कर दिया। हुआ यूं कि, दुनिया से खर्च होते वक्त मार्गरेट के पास अस्सी हजार डालर की रकम थी। आगे नाथ, न पीछे पगहा। सो वसीयत कर गई कि रकम उनके अन्तिम संस्कार में शामिल होने वालों में बांट दी जाए।...किस तरह? जो चुपचाप शामिल हों उन्हें पांच-पांच डालर...जो चीख-चीख-कर रोए और सीना पीटें, उन्हें पचास-पचास डालर।...मार्गरेट गुजर गयीं।...जनाजे में ५०० लोग शरीक हुए। सबके सब दहाड़े मार-मार-कर सीना पीटते हुए रो रहे थे। अन्ततः अपने आंसुओं की नकद कीमत वसूल कर अपने घर लौट गये।

मैं इस घटना से रत्ती-भर प्रभावित नहीं हुआ।...काहे से कि मैं उस देश में रह रहा हूं जहां नकली आंसू थोक के भाव लीटरों बह रहे हैं।... और नकदी कैश करा रहे हैं।...इन नकली आंसुओं के पीछे ३६ वर्षों की प्रगति का पूरा इतिहास है। देश की चिन्ता और समस्याओं पर निरन्तर बहते आंसू...जैसे रूम कूलर में अन्दर ही अन्दर पानी का प्रवाह होता रहता है।...और इन आंसुओं की भरपूर कीमत है सत्ता...कुर्सी ...गद्दी...अधिकार। मैंने मगरमच्छ आज तक नहीं देखा...देखना भी नहीं चाहता। उसके आंसुओं के बारे में सुना है, मगर यह नहीं सुना कि मगरमच्छ ने कभी अपने आंसुओं की कीमत मांगी हो। इन्सानी मगर-मच्छ ज्यादा कल्चर्ड होता है। कीमत वसूल लेता है...नकली आंसू बाद में बहाता है...देशहित में।...इमेज बनी रहती है।...

आंसू बहाने के बहानों की कमी नहीं इस देश में। भूख, सूखा, गरीबी, बाढ़, दुर्घटनाएं, धार्मिक दंगे। जहां मौत की खबर आयी, घर वाले बाद में रोते हैं, नेता पहले ही आंसू-भीगा स्टेटमेण्ट जारी कर देता है कि वह बहुत दुखी है। बन गई इमेज। खरी हो गई सुख-सुविधा की करेंसी। ...मौत एक बड़ी नुमाइश हो गई है इस मुल्क में। आंसुओं से छपे इस नुमाइश के टिकट बेचकर कितनी ही रकम उगाह चुके हैं लोग। मार्गरेट के रोने पर पचास डालर मिले और सिलसिला खत्म हो गया।...यह भी कोई बात हुई? हमारे यहां साढ़े तीन दशकों से एक-एक आंसू कैश हो रहा है। जब-जब किसी ट्रेजेडी पर मुल्क का कोई रहनुमा रोया है, मुझे हंसी आयी है। रोता हुआ नेता या मंत्री मुझे अच्छा नहीं लगता। रोना ही था तो मंत्री काहे को हुआ? मतदाता की आंखों में आंसू नेचुरल लगते हैं। ...मगर नेता रोये बगैर मानता भी तो नहीं। अपनी इमेज की कीमत वसूलनी है। अन्दर नकली आंसुओं का भण्डार भरा रहता है। इधर कहीं कोई आफत आई उधर आंसुओं का बटन दबा दिया। सारा देश तरल हो उठा। मरने वाले भी अपने मरने का गम भूल गए। नेता रो रहा है? मरना सार्थक हो गया।...जैसे-जैसे चुनाव नजदीक आते जाते हैं, आंसुओं की टंकी फुल होती चली जाती है। देशप्रेम बढ़ता चला जाता है।...

मार्गरेट की आत्मा खुश हो रही होगी कि उसके अन्तिम संस्कार पर अगलों को पचास-पचास डालर मिल गए। काश, दिवंगत महिला ने भारतीय अन्तिम संस्कार देखे होते! किसी 'पावरफुल' के कुत्ते का भी अन्तिम संस्कार होता है तो श्रद्धालु पहुंच जाते हैं...आंसू बहाते हैं और कालान्तर में किसी न किसी रूप में अपने बहाये गए आंसुओं का पूरा फायदा टीप लेते हैं। एक भी आंसू फ्री नहीं बहने पाता।...हां, कुछ थर्ड क्लास आंसू ऐसे जरूर होते जिनकी कोई कीमत नहीं होती ...मसलन, बेरोजगार नौजवान के आंसू...क्वारी बेटी के बाप के आंसू, लुटी हुई इज्जत के आंसू...धर्म के नाम पर चली हुई गोली के फलस्वरूप टूटी हुई चूड़ियों के आंसू...किसी बच्चे के भूखे पेट के आंसू...अस्पताल और पुलिस की यातना झेलने वाले के आंसू... वगैरह। मैं इन्हें आंसू ही नहीं मानता। यह तो 'सारे जहां से अच्छा

हिन्दोस्तां हमारा' का नित्य क्रम है। इनकी कोई कीमत नहीं लगती। लगनी भी नहीं चाहिए।...हर आंसू मोती नहीं होता। जिनके आंसू 'मोती' होते हैं वे उनकी पाई-पाई वसूलना भी खूब जानते हैं। हमदर्दी कोई सड़क पर पड़ा सिक्का नहीं है कि किसी के हाथ भी लग जाए। जिनकी हमदर्दी का महत्त्व है वे उसे रिजर्व रखते हैं और सही मौके पर कैश करा लेते हैं...मार्गरेट के रोने वालों की तरह।...आंसुओं का फिक्स्ड डिपाजिट ...अभिनय का कौशल और नन्ही सी लिप-सिम्पैथी, कुर्सी और इनको बरकरार रखती है और नकली आंसू धीरे-धीरे विदेशी बैंकों में डालर की शक्ल में बदल जाता है। हैसियत के अनुसार सबका विदेशी बैंकों में इन्हीं घड़ियाली आंसुओं का डिपाजिट है। राजनीति में वे शहीदी आंसू अब रहे ही नहीं जो सीने की तहों से निकलकर आंखों तक आते थे। उन्होंने आजादी दिलाई और आंखों ही आंखों में खुश्क हो गए।

कुर्सी के फसाने

कुर्सियों का अपना अलग एक व्याकरण है। जो 'भूत' है उसे 'भविष्य' होते देर नहीं लगती। जो वर्तमान है वह तड़ से भूत हो जाता है। कुछ कुर्सियां होती ही भुतही हैं। आदमी बैठा नहीं कि तत्काल ही भूत हो गया। कुछ कुर्सियां धीरे-धीरे ऊंची की जाती हैं ताकि पब्लिक को दूसरों का अन्देशा न हो और अन्दर ही अन्दर खीर भी पकती रहे। कुछ कुर्सियां बड़े जतन से सन्तान के लिए चिकनी की जाती हैं, तो कुछेक कुर्सियां सन्तान देती भी हैं।...आप चौंको मत। मैं पुनः रिपीट कर रहा हूं कि कुछ कुर्सियां सन्तान देती भी हैं। अब आप जरा लन्दन चलो... वहां के टेलीफोन एक्सचेंज में एक ऐसी कुर्सी है जिस पर बैठने के साल भीतर ही तीन महिला आपरेटरों को पुत्ररत्न हासिल हुए। इन्हें विवाहित जीवन के पिछले बीस वर्षों से एक सन्तान की कामना थी। अब आप भारत लौट आओ। .. क्या-क्या अजूबा नहीं है अपनी इस सुजलाम्-सुफलाम् भारतीय भूमि पर?...जबलपुर में टेलीग्राफ्स स्टोर्स और वर्कशाप्स के एकाउण्ट्स आफीसर के दफ्तर में एक कुर्सी पर बड़े बाबू बैठे तो डबल-डबल बेटे (जुड़वां पुत्र) हासिल किए। वे हटे...तो एक गुजराल साहब बैठे। उन्हें भी डबल पुत्र मिले...अब जो गुजराल साहब दो महीने की छुट्टी गये और उनकी जगह बाबूलाल कपूर आये तो उनके घर में भी डबल ढोलक बजी। अतः यह संतान हस्ता कुर्सी पूजी जाने लगी।... फेमिली प्लानिंग वालो, आप कहां हो? इस कुर्सी को उठवा लो प्लीज! ...उन अधेड़ या बूढ़े नेताओं के घर पहुंचवा दो जिनके पास अपनी कुर्सी का अभी कोई वारिस नहीं है।...आखिर हमें देश की खशहाली भी तो

देखनी है।...छत्तीस बरस जिन्होंने आजादी को चार चांद लगाये...अब उनकी औलादों को हक पहुंचता है कि वे आठ चांद लगाएं...(या सारी रोशनी ही छीन लें)...मेरे और आप जैसे लोग कुर्सी पर बैठ भी गए तो अपना-अपना खाली पेट बजाने के अलावा और क्या करेंगे?...जिसकी बन्दरिया, वही नचावे।...हमारी भारतीय पब्लिक में एक बहुत बड़ी कमी है। वह समझती है कि हर नितम्ब हर कुर्सी के लिए उपयुक्त है। न जी! पहले सरीर में चर्बी पैदा करनी पड़ती है...शरीर का क्षेत्रफल बढ़ाना पड़ता है...आत्मा को और विवेकविहीन होना पड़ता है...दिमाग में फसाद की जड़ें और फूट के बीज बोने पड़ते हैं...चेहरों पर तटस्थ किस्म की बिनम्र मुस्कराहटें सजानी पड़ती हैं... तब आदमी कुर्सी के काबिल बनता है।...उस कुर्सी के काबिल जो स्वयं कुर्सियां जनती चली जाती है और देश आगे बढ़ता चला जाता है।...

अपने भूतपूर्व मुख्यमंत्री बाबू विश्वनाथ प्रताप सिंह ने (वर्तमान होने से पहले) असन्तोष के जाने किन क्षणों में कुर्सी पर एक कविता लिखी थी जिसका अर्थ यह था कि कुर्सी के हाथ-पांव होते हैं—पीठ और पेट होता है... सिर्फ सर नहीं होता। अलग-अलग सर अलग-अलग समय पर कुर्सी पर फिट कर दिए जाते हैं। राजा साहब उन दिनों कहीं फिट नहीं थे सो एक कविता का जन्म हो गया। कविता हमेशा असन्तोष के क्षणों में ही जन्म लेती है।...कुर्सी की पालिश कविता छीन लेती है और कवि पुनः कुर्सी हो जाता है।... राजा साहब एक साफ दिल, ईमनदार आदमी हैं, मगर उनकी भी मजबूरियां हैं।...कविता बाहर आना चाहती है मगर कुर्सी रोक देती है।...कविता फाइलों और ऊपरी आदेशों तले दबी पड़ी रह जाती है...सुषुप्त बीज जैसी।

कुछ कविताएं ऐसी होती हैं जो कुर्सी पर आने के बाद ही मुखर होती हैं। अच्छा-भला कवि योजनाओं, आस्थाओं और चुनावों के गीत तथा पैम्फलेट लिखने लगता है। राष्ट्रीयता एकदम से बोतल से चढ़े खून की तरह रगों में समा जाती है।...देशप्रेम अन्दर ही अन्दर काटने लगता है और कवि कालान्तर में पुरस्कारों और सम्मानों से विभूषित होकर महाकवि बनते हुए घोर यश को प्राप्त होता है।... अपने हिन्दी साहित्य

में ऐसे कवियों की परम्परा काफी प्राचीन है।... पहले जो दरबारी गद्दी थी वही अब कुर्सी हो गई है। पेट और पीठ को सजाए रखने का यह सिलसिला सदियों से चला आ रहा है भाई साहब।... अब पुनः आप वहीं आ जाओ। कुर्सियां सन्तान को जन्म देती हैं...सन्तान कुर्सियों को सजाती है और क्रमशः अपनी सन्तान के लिए कुर्सी तक जाने की राह हमवार करती है।... मैं किसी एक परिवार की बात नहीं कर रहा हूं।...कुर्सियों की अलग-अलग साइज होती है।...सन्तानों की भी अलग-अलग साइज होती है...ग्रामप्रधान से लेकर न्यू डेल्ही तक। ...अगला पहचानता है कि किस कुर्सी से शुरू करें तो कौन-से सोफे तक पहुंचने की सम्भावना है?...और इसी जोड़-तोड़ में कितनी ही छब्बीस जनवरियां और पन्द्रह अगस्त गुजर जाते हैं। कुर्सियों का काफिला धीरे-धीरे दिशाहीन बढ़ता रहता है।...

वार्निश की महक के तले कुर्सी की गन्ध सूंघी है कभी आपने? ... कितने ही अधबुने अरमानों का लोबान महकता है...कितनी ही सिसकती हत्याओं की बू आती है।

...दफ्तर के बड़े बाबू से लेकर सत्ता की हाईबैक चेयर तक हर कुर्सी अपने-आपमें मुगलेआजम होती है...ऊपर-ऊपर सद्भावना की चमक, अन्दर-अन्दर इरादों का ज्वालामुखी धुएं से लपट उठती है तो खुशी-सी होती है...लपट बुझकर धुआं बनती है तो दुख होता है। ... कुर्सी आबाद होती है तो एक आस बंधती है...रिक्त हो जाती है तो अन्देशा दुख देता है कि अब जाने कौन इसे आबाद करेगा?...इसी आस और अन्देशों ने साढ़े तीन दशक निकाल दिए...कुर्सियां ज्यों की त्यों हैं। ...इनकी पालिशदार लकड़ी का भेद समझने वाला परमहंस हमारे-आपके बीच नहीं। हमें सिर्फ इन्हें सजाए रखना है।...दूसरे के गीतों की तरह हम सिर्फ इन कुर्सियों को गुनगुना सकते हैं...अपना नहीं कह सकते। ...जिस दिन 'अपना' कहने की स्थिति आ जाएगी उस दिन लोग कुर्सियों से नीचे उतर आएंगे नंगे पांव...और हमारे-आपके साथ-साथ चलने लगेंगे। मगर कुर्सियां अपने जीते जी ऐसा होने नहीं देंगी।

अस्पताल न जाने का सुख

अस्पताल और अस्पताल...

प्रसूता और प्रसूता......बच्चे तथा बच्चे में गहरा फर्क है। उतना ही फर्क जितना लखनऊ और ब्रिस्टल में है। जितना देख-भाल और गफलत में है। मैं, जहां तक मुझे याद है, किसी अस्पताल में नहीं पैदा हुआ। घर पर ही आंखें खोलीं। अस्पताल में हुआ होता तो शर्तिया चोरी हो जाता...या बदल जाता या आज तक रोता रहता।

अब आप जरा विदेश की सुनो। ब्रिस्टल के एक मिस्टर रूपर्ट बेन्स की कथा। बेन्स साहब के जब छठा बच्चा हुआ तो अदालत ने उन पर इस बात का जुर्माना कर दिया कि बच्चे का प्रसव अस्पताल में न होकर घर पर क्यों हुआ?...६ सौ अस्सी रुपये जुर्माना भोगा बेन्स साहब ने।... १९५२ के मिडवाइफरी ऐक्ट को तोड़ने के जुर्म में, जिसके तहत प्रसव पर डाक्टर और मिडवाइफ का होना जरूरी है। अदालत खर्च के १०२ डालर भी बेन्स को ही अपनी जेब से भोगने पड़े। बेन्स बेचारा बेरोजगार था...ऊपर से पत्नी और पांच बच्चों का खर्च। मगर अगलों ने एक न सुनी और तड़ से जुर्माना ठोक दिया।...

अब आप इसी दुखदायी सन्दर्भ में सीधे अपने इण्डिया पर आ जाओ। आप बेन्स की जगह किसी भारतीय मुरारीलाल को रखो जो बेरोजगार हो, पांच बच्चों का बाप हो और छठे की पैदायश के सिलसिले में उसे मजबूरन अस्पताल जाना पड़े। अपने भारत में यही क्या कम सुख है कि कानूनन अस्पताल नहीं जाना पड़ता। घर पर ही किसी सस्ती-मद्दी दाई की मदद से एक नया जीव पृथ्वी पर ले आते हैं। अस्पताल जाना

पड़े तो और फजीहत। न नये जीव की गारण्टी, न जीव की अम्मा की। यातना का एक अन्तहीन क्रम, जिसे कहते हैं भारतीय अस्पताल...जूता पहनने वाला ही जानता है कि कौन-सी कील कहां चुभ रही है? जो अस्पताल गया है उससे पूछिए यातना की अधबुनी कहानी। अस्पताल में आराम से फैलकर पसरने के लिए दो में से एक बैसाखी जरूरी है—या राजनीतिक जलवे की बैसाखी, या भरपूर पैसे की...मेरे या आप जैसे इन्सान के लिए अस्पताल का सुख इस शेर की तरह है कि—'उस चीज का क्या जिक्र जो मिलनी ही नहीं है...सहारा में कभी साया-ए-दीवार न मांगो।' इसके द्वार ठेलकर आप अगर प्रवेश पा भी गये तो गन्ध, लापरवाही, पीड़ा और बेचारगी का एक अन्तहीन सिलसिला। हर लम्हा एक ही हुआ कि इस शफा से तो मौत ही अच्छी, मेरे मालिक। गर्भवती के लिए अपने अन्दर पलता हुआ नन्हा जीव खुशी की किलकारियां नहीं बल्कि झिड़कियों और अवहेलना का दर्द लेकर आता है। एड़ियां ही रगड़नी थीं तो अपने घर की चहारदीवारी क्या बुरी थी? डाक्टरों और नर्सों की बेरुखी और वार्डब्वाय का हिटलराना अन्दाज एक अविस्मरणीय घाव की तरह सीने पर नक्श होकर रह जाता है। उनके नजदीक हर दर्द बेबुनियाद है, हर कराह बेमकसद। इस दर्द का एहसास कराने के लिए काफी पैसों की जरूरत होती है जो मुट्ठियों में दफन होते ही थोड़ा-सा अहसास जगा देते हैं। इस मुल्क में दुख-दर्द दूर करने की दो ही संस्थाएं हैं—कचहरी या अस्पताल। दोनों में ही दाखिल होते समय इन्सान कांप उठता है, ३६ वर्ष की आजादी का यह हासिल कुछ कम है क्या? बेन्स पर जुर्माना इसलिए हुआ कि उस गरीब बेरोजगार ने अपनी पत्नी को प्रसव हेतु अस्पताल नहीं भेजा। किसी भारतीय बेरोजगार (पांच बच्चों के पिता) को सजा देनी हो तो उसे...अर्थात् उसकी पत्नी को अस्पताल भेज दीजिए, जुर्माना खुद-बखुद हो जाएगा गरीब पर अर्थात् अपने यहां के और ब्रिस्टल के बीच अस्पताल जाने और न जाने का फर्क है। खून जब तक रगों के अन्दर रहता है, उससे एक अनजानी-सी मुहब्बत होती है...मगर जब रगों से बाहर बह निकलता तो उसे देखकर एक खौफ लगता है, प्रभु कृपा से अपने अस्पतालों ने यह अन्तर मिटा दिया

है, खून सिर्फ वह है जो बोतलों में बन्द है...कीमती है...हर किसीको उपलब्ध नहीं...बाकी हर किस्म का खून पानी है, कुल मिलाकर अस्पताल न जाना बेन्स की मजबूरी थी...सजा पा गया। अस्पताल जाना हमारी मजबूरी है सजा भोग लेते हैं। इन्हीं दोनों मजबूरियों के बीच अस्पताल दिन-रात तरक्की कर रहे हैं...भारत के भी ब्रिस्टल के भी...।

कैसा दुर्भाग्य ! हजारों वर्षों [illegible] हस्त-लिखित ग्रन्थ आज भी सुरक्षित, पर दस, बीस पाठकों के हाथों निकलते २ ही मूल्यवान पुस्तकें नष्ट ! हमारी घोर लापरवाही का यह कितना दुःखद एवं दयनीय रूप !!

एक आनर सौ सेमिनार

आप अगर कभी दूल्हा बने होंगे, तो याद होगा कि फेरों के टाइम में कुछ कसमें वगैरह खिलवायी जाती हैं, मसलन मैं बीवी के प्रति यों वफादार रहूंगा, यों उसे पूरी पगार सौंपूंगा, यों दफ्तर से सीधे घर जाऊंगा, परायी स्त्री को (उसकी उम्रानुसार) मां या बहन समझूंगा वगैरह-वगैरह। ऐसे मौकों पर मन ही मन दूल्हा को भी हंसी आती है कि पंडित जो है, वह फोकट में टाइम वेस्ट कर रहा है। पंडित भी मन ही मन झुंझलाता है कि यह उल्लू की दुम फाख्ता जो सामने बैठा है, एक भी वचन नहीं निभायेगा, मगर चूंकि मुझे पुजापे के पैसे पूरे लेने हैं, तो कसमें-वसमें तो खिलानी ही हैं, बाद में ससुरा वफादार रहे या भाड़ में जाये। एकदम ऐसी ही हालत मैंने सेमिनारों में महसूस की है, हम जानते हैं कि अन्त जो है, वह काफी पीकर घर लौट जाना ही है, पर विषय को घंटों यों फींचते रहते हैं हर कोने से, गोया आज सुधार होकर ही रहेगा।

मेरे एक मित्र बेहद सेमिनारी किस्म के हैं, कल्चर से लेकर एग्रीकल्चर तक हर सेमिनार में महत्त्वपूर्ण ढंग से बैठे हुए पाये जाते हैं। मैंने उनसे पूछा कि आखिर सेमिनार या हिंदी में विचार गोष्ठी या उर्दू में मजलिसे-तफक्कुर है क्या ? उन्होंने पहले मेरी, फिर अपनी बगलें झांकीं और एक ठंडी आह घसीटकर बोले, "काश, कुछ होता, आप यों समझ लो कि सेमिनार ऐसे लोगों के मजमे को कहते हैं, जो अकेले कुछ नहीं कर सकते और एकत्र होकर मजमुई तौर पर मान लेते हैं कि कुछ नहीं किया जा सकता, सिर्फ एक उदासीन निष्कर्ष तक पहुंचने के सफर का नाम सेमिनार है, मगर शामिल होना जरुरी हो जाता है।"

कुछ दोस्त का जुल्म, कुछ खुदाई मार—मुझे भी चंद सेमिनारों में शरीक हो लेने का शर्फ हासिल हुआ। जो वक्ता थे, वे बकते रहे। मैं सिर्फ झेलता रहा। काफी और मिनी-समोसे वगैरह निपटा चुकने के बाद, मैंने दबी जबान सिर्फ इतना पूछा कि सेमिनार का विषय क्या था ? अगला यह सुनकर उछल पड़ा और चैन की सांस ली कि सेमिनार सार्थक रहा। वह सेमिनार ही क्या कि जिसकी विषय-वस्तु पल्ले पड़ जाये ! सेमिनार की समूची बौद्धिकता इसीमें है कि आम से बात शुरू करके यूकलिप्टस पर चढ़ जाओ और नीचे उतरने का नाम न लो।

मेरे शहर में, गुजरे दिनों लखनऊ के कल्चर और तहजीब पर वह हुआ, जिसे लोगों ने मजबूरन सेमिनार कहा। सारे हाल में सिगार का धुआं गंधा रहा था। जो पीते हैं उनके लिए 'महक' रहा था। मैंने यह सोचकर तसल्ली कर ली कि शहरे-लखनऊ के कल्चरिए चूंकि हाल में हुक्का नहीं ला पाये, सो एक नली सिगार में काम चला लिया। मेरे जैसों के लिए पीक थूकने का कोई बन्दोबस्त नहीं था, सो आत्मसात करते रहे।

लखनवी तहजीब के वर्क पलटने वाले इस कल्चरल सेमिनार में ज्यादातर लोगों ने पेरिस की तहजीब का आंखों देखा हाल बयान करके साबित कर दिया कि वे ओवरसीज हो आये हैं और इमामबाड़ों के अलावा एफिल टावर भी देख चुके हैं। मेरे अंदर पेरिस इतना ज्यादा भर गया था कि अपना नंबर आने पर मैंने फ्रेंच में बोलना पसन्द किया और मन ही मन 'अकबर' का शेर पढ़ा।

> चोर आये, चोरी की, सब कुछ उठाकर ले गये,
> कर ही क्या सकता था बंदा खांस लेने के सिवा ?

मैंने चूंकि पेरिस शहर का फोटो भी भर आंख नहीं देखा था सो लखनवी तहजीब पर पढ़ा गया मेरा पेपर साढ़े पांच आने वाला माना गया। जिन्होंने पेरिस की तहजीब के बारे में बोला था उनका दर्जा बालकनी तक जा पहुंचा था। बेहद सफल सेमिनार रहा। जो लोग तहजीबे-लखनऊ सुनने आये थे, वे सब तहजीबे-पेरिस की बारीकियों से मालामाल होकर घर लौटे। एक हजरत जो सेमिनार के ज्ञान से ओवरलोड होकर स्कूटर स्टार्ट कर रहे थे, बोले कि तहजीबे-लखनऊ जिंदा रखने के लिए

ऐसे सेमिनारात जल्दी-जल्दी होने चाहिए। मैंने तय कर लिया कि अगली बार (भगवान न करे) किसी हकीम के मशविरे पर मेरा सेमिनारे-लखनऊ आना जरूरी ही हो गया, तो मैं शर्तिया तहजीबे-आस्ट्रेलिया पर बोलकर बौद्धिक सील जड़ दूंगा सुनने वालों पर।

आप कभी सेमिनार सुननेवालों के गरीबान में झांककर देखिए, सब के सब छटपटाते नजर आयेंगे कि बगल वाला बाहर जाये, तो मैं भी निकल भागूं। उधर जो पेपर पढ़ रहा है वह इतनी बुलंदी पर है कि जैसे आर्किमडीज के बाद खोजपूर्ण चीजें उसी के हिस्से में आयी हैं। पशुपालन-संबंधी एक सेमिनार में, सोशल वर्कर होने के जुर्म में मेरी बीवी फंस गयी। मैं जानता था कि बोर होकर लौटेगी। जो औरत इतने बरसों में मेरे जैसे निरीह पशु का पालन न कर पायी, वह भला पशुपालन के आधुनिक तरीकों का क्या लुत्फ लेगी ?

वही हुआ। उसका रोना यही था कि पशुओं के बदले सारा सेमिनार पंजाब की हिंसक घटनाओं पर चलता रहा। सेमिनार के सामने एक मुद्दा होना चाहिए, वह था; पशुपालन न सही, पंजाब सही; पीलीभीत पर बहस होती तो एतराज हो सकता था। अगले दिन पेपरों में पशुपालन सेमिनार की अच्छी चर्चा रही। जिन-जिनके फोटो छपना तय था, छपे।

जहां-जहां सेमिनारात में मेरा गुजर हुआ है, मुझे सबसे ज्यादा तरस सेमिनार के सदर यानी चेयरपर्सन पर आया है—खामोश सहमा-सहमा, मन ही मन प्रभु ईशु से कामना करता हुआ कि, ऐ मुकद्दस बाप, उन्हें क्षमा करना। वे नहीं जानते कि वे क्या कह रहे हैं। एक दृश्य होता है कि वक्ता बेलगाम छूटा हुआ है। पब्लिक करवटें बदल रही है और चेयरपर्सन खोज रहा है कि पोडियम (वक्ता मंच) वाले को पंजाब से खींचकर पशुपालन पर कैसे लाये।

सेमिनारों की एक जाबिर खूबी यह भी है कि पालक साग से लेकर पैलेस्टाइन (फिलस्तीन) तक, किसी विषय पर भी सेमिनार हो सकता है और भटककर कहीं भी पहुंचा जा सकता है। मेरे शहर में नवाबों की बनवायी हुई एक बारादरी है, जहां कभी वाजिद अली शाह रासलीला रचाते थे। अब वहां कद्दू, अंगूर व दीगर फल और सब्जियों पर सेमिनार

होते हैं। हम लखनऊ वालों ने साबित कर दिया है कि हम कद्दू तक पर सेमिनार ठोक सकते हैं।

ऐसे ही कद्दूओं के बीच कई बार मैं फंस चुका हूं। जुर्म मेरा इतना है कि बाटनी से एम० एस-सी० हूं और फलों-सब्जियों पर लिखने की हिमाकत की है। इन सेमिनारों में ऐसों-ऐसों को झेलना पड़ा है जो यह नहीं जानते कि कद्दू फल है या तरकारी या कि कितने ऊंचे दरख्त पर उगता है। एक हजरत जो पुराने सेमिनारिये हैं, कद्दू से शुरू होकर कनाडा जा पहुंचे और कद्दूओं पर अपना पेपर पढ़ा। पब्लिक चूंकि कनाड़ा नहीं गयी थी, मजा लेती रही कि एक-एक कनाडियन कद्दू को उठाने में कई-कई क्रेन टूट जाते हैं।

कुल मिलाकर वही मसल कि बैठे से सेमिनार भली। हर बड़े शहर में चंद पैदायशी सेमिनारिये होते हैं, जो पांव में मोजे डाले तत्पर रहते हैं कि कब बुलावा आये और कब जूतियां बांधकर सटक लें। पेपर तैयार रहता है, अमृतधारा जैसा जो किसी विषय पर फिट किया जा सकता है। मूल चीज है एक पेपर, विषय नहीं।

भावी दुल्हनों पर चिंतन

मुझे तसल्ली है कि मेरे कारण या मेरी पत्नी के कारण, देश की सुरक्षा या आर्थिक स्थिति को कोई खतरा नहीं है। अपनी भूतपूर्व जवानी में जब मेरे हाथ पीले होने की उम्र आई तो मेरे रंग-रूप और फोकस आदि को देखकर टोले-पड़ोस वालों ने सलाह दी कि इसके लिए गोरी विदेशी दुल्हन ठीक रहेगी। पिता जी गांधीवादी थे, स्वदेशी में ही विश्वास रखते। अड़ गए कि नहीं, इसके लिए लोकल अर्थात् मेड इन इंडिया बीवी ही लाएंगे। ले आए। तब मुझे दुख हुआ था, पर आज संतोष हो रहा है...तीस साल बाद! देश में तस्करी की कितनी तरक्की हुई, पर मैंने इंपोर्टेड पत्नी तक से इन्कार कर दिया।

अब ताईवान की सुनिए। जो लोग यह नहीं जानते कि ताईवान कहां है, कृपया भूगोल का पुस्तक देख लें। यहां मसला दुल्हन का है, जुगराफिए का नहीं। ताईवान की संसद् में मामला छिड़ा हुआ है और चिंता प्रकट की जा रही है कि देश में विदेशी दुल्हनें तेजी से चली आ रही हैं। ताई-वानी सांसदों का कहना है कि पिछले दो वर्षों में तीन हजार से अधिक दुल्हनें ताईवान में आ गई हैं। इससे एक तो देशी दुल्हनों (होने वाली) का भविष्य खतरे में पड़ गया है और दूसरे, देश की सुरक्षा को आंच आ रही है। लोकल दुल्हनों की मांग घट रही है। नई दुल्हनों का आयात बढ़ता ही जा रहा है। इस पर रोक लगाने के लिए कानून बनाना चाहिए।

कल को अगर यही समस्या भारत में उठ खड़ी हो, और मैं विदेशी दुल्हन ले आया होता तो आज असम जैसी एक समस्या के० पी० सक्सेना के घर में भी खड़ी हो गई होती कि दुल्हन रखी जाए या वापस विदेश

लौटा दी जाए। बच्चों का क्या होता? वे किसकी माता जी को 'माता जी' कहते। नहीं साहब, पिता जी की दूरदृष्टि और पक्का इरादा काम आ गया। थैंक यू, फादर।...

हमारा देश महान् है। ताईवान की तरह संकोची नहीं है। दुल्हनों के मामले में लिबरल है। इफरात दुल्हनें हैं इस देश में भूख और गरीबी के कारण विदेशों के लिए निर्यात होने को तैयार। अपने आंसू और अपना दर्द अपनी ही पलकों में समेटे, खाड़ी देशों के शेखों के हाथों बिकने को प्रस्तुत। हजारों दुल्हनें निकाह पढ़वाकर विदेशी जहाजों में लाद दी गईं... शक्कर और जूट के बोरों की तरह। देश के माथे पर शिकन नहीं आई। जिसके पास तेल है वही राधा नचा सकता है। जिसके पास पैसा है वह दुल्हनों का सुपर मार्केट सजा सकता है। देश की बेटियां विदेशी दौलत-मंदों के गुलदस्तों में सज गईं।

हम कोई ताईवान थोड़े ही हैं। हम भारत हैं, जिस देश में गंगा बहती है।...इस बहाव में क्या कुछ नहीं बह जाता! दुल्हनें भी...। इसकी किसे चिंता है कि लड़कियों का नाजुक जीवन महीन कांच जैसा होता है जो धीरे से चटखकर टूट जाता है और आवाज नहीं होती। मांग का रेशमी सिंदूर और द्वार की सच्ची अल्पना भाग्यशाली बेटियों को ही नसीब होती है। जात-पांत पर न जाइए। बेटियों की बनावट में कोई अलग-अलग मिट्टी नहीं लगती। फूल-सा कोमल एहसास हर बेटी के मन में होता है। मगर इस एहसास की कीमत आप रोज ही अखबारों में देखते होंगे। मिट्टी तेल की बोतल, स्टोव की लपट, साड़ी के फंदे, जहर की गोलियां...या फिर, खाड़ी देशों को 'दुल्हन' के नाम पर निर्यात।... दुल्हनें हमारे लिए कोई महंगी चीज नहीं हैं...क्योंकि हम ताईवान थोड़े ही हैं जहां की संसद् में दुल्हनों के भविष्य को लेकर चिंता खड़ी हो!

हम सम को उदार जगमांही।...एक बेटी, एक दुल्हन कोई वनस्पति में मिली चर्बी थोड़े ही है जिसे लेकर संसद् अपना सिर धुने। नेता लोग अनशन पर बैठें और अपना राजनीतिक उल्लू सीधा करें! क्यों? क्योंकि एक बेटी के जलते हुए या निर्यात होते हुए शरीर की कीमत गाय या सुअर की चर्बी से बहुत कम है। हम चर्बी का आयात बंद कर सकते हैं...

दुल्हनों का निर्यात नहीं।

मुझे लगता है कि मैं शायद गंभीर हो चला हूं। देश की बेटियों को लेकर गंभीर होने का मुझे कोई हक नहीं। यह सब देश के नेताओं का हक है। मैं और आप सिर्फ यहीं तक सीमित हैं कि पेपरों में पढ़ते रहें कि आज कहां कौन बेटी दहेज के जबड़ों में समा गई, या किसी अरबपति शेख के ड्राइंग रूम का खिलौना बन गई।...अमृता दी (श्रीमती अमृता प्रीतम) ने ठीक ही कहा है कि 'सभ्यता का युग तो तब आएगा जब औरत की मर्जी के बगैर उसका नाम भी कोई होंठों पर नहीं ला सकेगा।...' खैर, उस युग को लाने में हमारे रहनुमा प्रयत्नशील हैं। अभी देश के सामने बड़ी-बड़ी समस्याएं हैं (जो पिछले छत्तीस वर्षों से बाकायदा हैं)। कभी फुर्सत हुई तो बेटियों के बारे में भी सोचेंगे। अभी तो बेटों की चिन्ता ही क्या कम है ?...फिलहाल एक शेर पर गुजर कीजिए :

गिर जाओगे तुम अपने मसीहा की नजर से,
मरकर भी इलाजे-दिले-बीमार न मांगो।

मैं, के० पी० और ग्रोसीटो

अब भला फागुन-भर आपसे क्या पर्दा ? यों भी गुलाल उड़ता है तो मन की पुरानी दबी-ढकी सीवनें खुल जाती हैं ! एक से एक पुराना खांसता हुआ 'बाबा' देवर बनने की धुन में सिर पर सुर्ख अंगोछा बांधने लगता है ! अपनी भी कह ही दूं ! कुछेक वर्ष पहले यार लोग और प्रशंसक समझते थे कि के० पी० सक्सेना नाम से कोई महिला लिखती है...कोई कृष्ण प्रिया या किरन पूनम या कनक पल्लवी वगैरह ! मैं जो हूं सो करेक्ट में यश अपने एकाउंट में इकट्ठा कर रहा हूं ! कइयों ने प्रेम-पत्र भी लिखे कि प्रिय, अब तो बता दो पूरा नाम ! शादीशुदा हो या अभी मांग सिंदूर से बेदाग है ?...कनक-छरी हो या गज-गामिनी ? डिस्को सुनती हो या मीरा के बौराए भजन ? कमर वगैरा की नाप क्या है ?

हाय राम ! मेरा मन कैसा-कैसा हो गया उन खुशबूदार खतों को पढ़कर ! काश, मैं लिखता नहीं···लिखती होती !...कई बार मन में शंका हुई और मूंछों पर हाथ फेरकर तस्दीक की कि मैं वही हूं ना जो हूं ?...कई बार अजनबियों ने चोर तरीकों से कन्फर्म किया कि कोई और तो नहीं है जो मेरे नाम से लिखता है ? उन्हें भी दुख हुआ और मुझे भी कि वह मूंछधारी खटरूस लेखक मैं ही हूं !...

आजकल यों भी महिला व्यंग्यकाराओं का बाजार गर्म है (सूर्यबाला, डॉ० सरोजिनी प्रीतम, अरुणा सीतेश आदि...सादर !) मैं भी उसी साइड में हुआ होता तो काहे बाजार मंदा रहता ?...मगर होता कैसे ? मुकद्दर का पोरस जो हूं !...नारी होने के अपने अलग एडीशनल सुख हैं ! 'अज्ञेय' जी ने कोई फोकट में थोड़े ही कहा है कि 'जब पुरुष में

नारी के गुण आ जाते हैं तो वह देवता बन जाता है...जब नारी में पुरुष के गुण आ जाते हैं तो वह कुलटा बन जाती है !' काश, मैं थोड़ा-थोड़ा देवता बन गया होता ! मेरे पाठकों को भी खुशी होती कि के० पी० बढ़िया लिख रही है ! महिला व्यंग्य काराएं जल-जल जातीं ! खाक झोंक कलमुंही पर ! पति से लिखवा रही होगी मरी !...फागुन-भर पाठकों के कैसे-कैसे प्यार-पगे खत आते !...मगर बिल्ली के अभागों छींका पहले ही टूटा हुआ है !...धीरे-धीरे जनसाधारण को विश्वास हो गया कि ये मरा मरदुआ ही है...कन्या नहीं !...

अभी मैं अपने नारी होने की सुखद कल्पनाओं में गुलो-गुल मोहर हो ही रहा था कि 'ग्रोसीटो' के बारे में पड़ा। आपकी कसम, सारी कल्पना फुकनूस हो गई। हाय राम, मैं मर्द ही अच्छा। वरना ग्रोसीटो हो गया होता। कौन ग्रोसीटो ? बताता हूं।...वही जिसकी खबर हाल ही में लंदन के 'डेली मिरर' ने छापी है !...ग्रोसीटो की उम्र है ५१ साल (मेरे बराबर चोकस) !···ग्रोसीटो डबल रोल कर रहा है। वह पुरुष तो है ही, साथ-साथ गर्भ भी धारण कर सकता है।...(मारे गए गुलफाम !) उसके पेट में वे सारे अंग मौजूद हैं जो किसी स्त्री को मां बनने का गौरव प्रदान करते हैं ! डाक्टरों का कहना है कि कृत्रिम गर्भाधान से ग्रोसीटो 'अम्मा' बन सकता है !...यह उस समय पता लगा जब ग्रोसीटो हार्निया का आपरेशन कराने अस्पताल में दाखिल हुआ।

ऐसा किस कारण हुआ ? ग्रोसीटो के जन्म में ही तगड़ा प्राकृतिक घोटाला हो गया था। जब उसकी मां गर्भवती थी तभी डाक्टरों ने जुड़वां बच्चे होने की घोषणा की थी। पर हुआ सिर्फ ग्रोसीटो। लड़की के अंग किसी कारण ग्रोसीटो के पेट से ही संयुक्त हो गए ! 'अजब तेरी कुदरत अजब तेरे खेल...छछूंदर के सिर में चमेली का तेल।' अब बेचारे ग्रोसीटो इल्लत में फंसे हैं। मूंछें फटकारे दफ्तर भी जा रहे हैं और ओवरकोट तले पेट भी छिपा रहे हैं। 'जच्चा द्वारे बाजत बधाई···' की नौबत आ गई है !...मेरी तो रूह फना हो गई पढ़कर। कभी मैंने अपने पेट का मुआयना नहीं कराया, मगर भगवान पर भरोसा है कि अभी ५१ साल तक जैसा शुद्ध के० पी० सक्सेना हूं वैसा ही रहूंगा !...अब बुढ़ापे में न

मतली आएगी, न खटाई खाने की तबीयत होगी ! प्रभु, मेरी रक्षा करना ! ग्रोसीटो होने का सुख मेरे किसी अन्य व्यंग्यकार मित्र को दे देना !...मेरे पास खिलाने-पहनाने को यों ही कई एक हैं !...

आप इसे फागुनी मजाक समझ रहे हैं क्या ?···वैज्ञानिक सत्य है ! आपमें से कोई ग्रोसीटो हो जाए तब पता लगे दूध की बोतल और बच्चे की चड्डी का बाजार भाव। लेखक के लिए और मुसीबत ! रचना लिखे या पलना झुलाए ? पत्नी के लिए अपने पेट से जने ही क्या कम हैं जो मियां के पेट से जनों की भी सेवा करे ?...बहरहाल; अब एक बददुआ हाथ लग गई है। किसी को गाली देनी होगी तो कह दूंगा, 'भगवान करे तू ग्रोसीटो हो जाए !'...उसे क्या मालूम कि ग्रोसीटो कौन है ?... ग्रोसीटो कांड पढ़कर मेरे अंदर की सारी जनानी कामनाएं काफूर हो गई हैं।...अपने साथी रचनाकारों के लिए भी होली की यही मंगल-कामना है कि वे ग्रोसीटो न हो जाएं।···मेरे लिए इल्लत हो जाएगी। अभी तक आसानी है। सूर्यबाला को 'प्रिय बहन' और शरद जोशी को 'स्नेही भाई' लिख देता हूं।...कोई 'हुल्लड़', शैल चतुर्वेदी, ज्ञान, मालिक, काका, चक्रधर या आदित्य (होली का मूड अन्यथा न लें) ग्रोसीटो हो गया तो पत्र में क्या लिखूंगा ? 'प्रिय बहन' या 'स्नेही भाई' ? न जी ! अपना हिंदी का लेखक यों ही दाल-रोटी के बोझ से झुक रहा है··· भगवान् उस पर रहम करे।...बाकी सब खैरियत। होली शुभ हो।... बिजली और टेलीफोन के गलत-सलत बिलों की तरह, भूलचूक... लेनी-देनी !

कागज और रोशनाई का खतरनाक खेल

आपकी कसम, पुरातत्त्व के उन डाक साब का मैं बहुत आभारी हूं जिन्होंने अपनी रिसर्च से साबित कर दिया है कि भारत में ईसा से चार सौ शताब्दी पूर्व...उहं...चार शताब्दी पूर्व भी, कागज और रोशनाई का रिवाज था। सिकन्दर और सम्राट अशोक के टाइम में भी कागज चालू था। उन दिनों कागज और रोशनाई कम मात्रा में उपलब्ध थे। इसे कहते हैं हिन्दी में, विडम्बना।...जब लिखने लायक कुछ था भारत में तब कागज कम था। अब सिर्फ काले कारनामे रह गए हैं तो कागज ही कागज भरा पड़ा है।...काश, मुझे सिकन्दर और अशोक के टाइम के कागजात मिल जाते तो कम से कम यह तो अन्दाजा लग जाता कि उस युग में फाइलें अनन्तकाल तक मेज दर मेज कैसे झूलती थीं और अपनों-अपनों के लिए लिखी गई सिफारिशी चिट्ठियों की भाषा क्या होती थी? ...जाहिर है कि मैं सिकन्दर की भाषा नहीं समझ पाता पर कागज टटोलकर पता लगा लेता कि उसमें दर्ज इबारत क्या कह रही है। गरीबी की भाषा आज ही कौन समझ रहा है? पर क्या गरीबों का उद्धार नहीं हो रहा है? हर गरीब गरीबतर होता जा रहा है।...३६ वर्षों की इस उपलब्धि के लिए किसी भाषा की जरूरत नहीं। बिना भाषा और व्याकरण के ही दर्द चारों तरफ बिखरा पड़ा है। समेट लो जितना जी चाहे।...कागज और स्याही की बात पढ़कर मन ललक उठता है कि काश, सिकन्दर और अशोक के टाइम के कुछ पेपर, पत्रिकाएं और प्रगति बुलेटिन हाथ लग जाएं! जरा पढ़ूं तो कि काश, सिकन्दर और अशोक का युग कितना पिछड़ा हुआ था! लुत्फ आयेगा। मगर अगले ही

क्षण मन कांप उठता है कुछ सोचकर। आज से शताब्दियों बाद जब कल का सिकन्दर और अशोक हमारे आज के अखबार पढ़ेगा तो क्या हमारा, आपका और देश के रहनुमाओं का सिर कब्र में शर्म से झुक नहीं जाएगा? आज का कागज, आज की रोशनाई अगर जिन्दा रह गई तो हमारी पीढ़ियों का मुंह दिखाने योग्य नहीं रह जाएगा।...वे लोग पढ़ेंगे और हंसेंगे कि आजादी हासिल करने के साढ़े तीन दशकों के बाद का हिन्दुस्तान ऐसा था? हमारे पूर्वजों, तुम मर क्यों न गए?...हर सांस खुद को बेचकर, इज्जत-आबरू ताक में रखकर, तुम्हें जिन्दा रहने का इतना शौक था?...भूख और गरीबी के पेट पर पांव रखकर तुम्हें खेल मेले और अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों पर करोड़ों फूंक डालने की हवस थी? बेरोजगारी का मुंह चिढ़ाकर निरन्तर हारती हुई टेस्ट मैचें खेलने का इतना जुनून था तुम्हें?...तुम्हारी छाती पर वे संन्यासी ब्रह्मचारी सांप पलते रहे जो बम और बारूद के सौदागर थे? धर्म के अन्धों की मशालों से देश फुंकता रहा और तुम राजाओं तथा मलिकाओं के स्वागत में गलीचे बिछाते रहे? क्षमा करें, शताब्दियों बाद आने वाली पीढ़ी से ये सब बातें मैं नहीं कहूंगा...वे अखबार...वे कागज...वह रोशनाई कहेगी जिसके भरोसे पर आज आप अपने प्रगति पोस्टर छाप रहे हो। काहे से कि मैं उस युग की रोटी खा रहा हूं जहां छोटी-मोटी नेतागीरी की रक्षा के लिए लड़कियों की सिसकती हुई इज्जत और जवानी डाक बंगलों में कमरों के हवाले कर दी जाती है और ऊपर से देशसेवा का लेबिल ठोक दिया जाता है।...अब यहां पर आकर मन सोचता है कि डाक साब ने अच्छा नहीं किया कि साबित कर दिया कि अशोक और सिकन्दर के टाइम में भी कागज और रोशनाई थी, लोगों का मन कलपेगा पढ़ने को कि 'क्या तब भी देश इसी तरह एड़ियां रगड़ रहा था?...' रहा-सहा सुख-चैन भी छिन जायेगा भूखे पेटों का! नहीं साहब, आप डाक साब की बात पर यकीन न करें। इस देश में कागज और रोशनाई पहले नहीं थी। सिर्फ अब है...ताकि दशकों की उपलब्धियों की कीर्तिकथा लिखी जा सके। ...जो घट रहा है उसे पी पढ़ो और उस पर ईमान लाओ। उड़ी हुई गर्द के पीछे दौड़ने से क्या हासिल? भूल जाओ आप अशोक और सिकन्दर

को।...सिर्फ यह याद रखो कि प्रधानमंत्री ने हाल में ही कहा है कि सारी अड़चनों और बाधाओं के बावजूद देश ने भरपूर तरक्की की है। हो सकता है कि सदियों पुराने कागजों में अशोक और सिकन्दर ने भी अपनी हुकूमत के सन्दर्भ में यही कहा हो। हर युग-पुरुष या युग-नारी को कहने का हक है। मुझे-आपको सिर्फ सुनना है...अखबारों के काले कागज बांचने हैं।...हमारा-आपका पूरा अस्तित्व ही बाथरूम में लगी उस कील जैसा है जिसपर कभी-कभार वक्त-जरूरत बड़े लोग अपने भाषणों का तौलिया टांग देते हैं और फिर...कील और तौलिया, दोनों को भूल जाते हैं।... ३६ वर्ष का लम्बा सफर। ढेरों कागज, ढेरों रोशनाई...ढेरों अध्यादेश। ...सब कुछ सोचकर भाई सूर्यभानु गुप्त की पंक्तियां याद आती हैं :

पुख्ता होते ही मर गयीं चीजें /
बात जब तक थी, बात कच्ची थी /
घर बनाकर मैं बहुत पछताया /
इससे खाली जमीन अच्छी थी।

कढ़ गये फिर बेल-बूटे

मैंने आज तक 'ब्रिज' (पुल) न जाने कितने देखे, मगर ब्रज नहीं देखा। कई बार होलियों पर ख्याल आया कि लाओ ब्रज-बरसाने देख आऊं—मगर आगरा से ही लौट आया। अपने कवि भाइयों ने जैसा-जैसा ब्रज की होली का वर्णन किया है उसे पढ़कर मन जो है वह फड़क उठा, मगर चूंकि गोपियों-कन्याओं के बीच रहने का अनुभव नहीं रहा, सो मन डरता है कि कहीं उल्टी-सीधी डण्डी या लट्ठ न मार दें और मैं कई हिस्सों में घर वापस पहुंचाया जाऊं। गोपियों और कन्याओं का खेल पहले द्वापर में लार्ड कृष्ण के बस का था या अब कलियुग में पुलिस के बस का है। मगर ब्रज की फागुनी पंक्तियां पढ़कर इस ढलती उम्र में भी तबीयत उमराव जान होने लगती है।...कवि कहीं पे कह गया है :

जुग-जुग जीवैं होरी नाचन हारी
ऐसा असिस फलैं रसिया को,
हुजे पावन भारी...होरी नाचन हारी।

बाकी सब तो ठीक है...मगर यह जो 'पावन भारी' वाली बात कही गई है यह परिवार कल्याण डिपार्टमेंट के खिलाफ जाती है। कवियों को गवर्नमेंट की पालिसी का ध्यान रखना चाहिए। तभी सरकारी पुरस्कारों के हकदार हो सकते हैं...खैर...बात चल रही थी ब्रज की होली की। सुना है कि फागुनी बौराहट में उधर महिलाएं जो हैं वे लाठियां लेकर होरी के बहाने मर्दों की धुलाई कर देती हैं।...प्यार-श्यार में कोई एकाध टीप या थप्पड़ मार दे यह ठीक है। मगर यह दफा एक सौ चवालीस वाली होली खतरनाक है। ऐसे में मर्द बेचारे क्या करते होंगे?

...किसी पेड़ या बिजली के खम्भे पर चढ़ जाने के अलावा चारा क्या है? बाज आए ऐसी मुहब्बत से...हटाओ पानदान अपना ;...मगर सुना है कि उधर मर्द भी अड़ियल हैं—लट्ठ खाने में मजा आता है। सौ-सौ छड़ियां खाएं, तमाशा घुस के देखें। वही स्थिति बनती है जो राजनीति में अपने राजनारायण जी की है... भूख सताती है, मगर नहीं। जरा-जरा-सी बात पर पलथी मारे अनशन पर बैठे हैं। इसे कहते हैं राजनीति का फागुनी हौसला...मेरे बाप के बस की बात नहीं। अपनी इसी फागुनी मस्ती में मैं जरा लंदन की तरफ निकल गया। वहां हैं एक विडेड वार्डर! चार सौ चालीस दिन खम्भे पर रह चुके हैं। मैं समझा कि लट्ठ मार होली के डर से खम्भे पर चढ़ गये होंगे......मगर शौकिया! विश्व रिकार्ड स्थापित करना था। तीस फुट ऊंचे खम्भे पर एक साल ढाई महीने तक बैठे रहे। कर लो जो कुछ करना है...न हाउस टैक्स की इल्लत, न वाटर टैक्स का लफड़ा......मजबूरन पुलिस ने उन्हें नीचे उतारा कि आप जमीन और आसमान के बीच में नहीं रह सकते।...

कहने का मतलब यह है यार, कि यह होली का मौसम जो है वह आदमी को खम्भे पर चढ़ा देता है। बासी कढ़ियों में उबाल आने लगता है और एक से एक खटरूस फागुनी अंगड़ाई लेकर तड़ से अमिताभ बच्चन बन जाता है।...वह तो कहिए कि भला हो महंगाई का कि जिसने लगामें खींच रखी हैं, वरना इस मस्ती में हर बूढ़ा बाबा देवर हो जाए।...जब तक पेट में निवाला नहीं पड़ता आदमी उचक नहीं पाता। ...गवरमेंट जी और बाजार भावों की कृपा से आदमी खिड़की पर खड़ा टुकुर-टुकुर निहारता रहता है कि फागुन आया और निकल गया। चुनाव आए और निकल गये। राहत का गुलाल आज तक हाथ न लगा। आश्वासनों के गीले पद चिह्न भी सूख गये।...रह गई मीलों रेत ही रेत...।

मेरी भूतपूर्व जवानी के दिनों में फागुन की खबर काफी पहले से हो जाती थी और जवान दिलों का ब्लड प्रेशर बढ़ने लगता था। अभाव कम थे, अबीर-गुलाल ढेर-सा। और अब दिन के दिन भी पता नहीं लगता कि आज तन गुलाबी होगा।...सुश्री सावित्री परमार के शब्दों

में...

> दूर कहीं पर चंग बज उठा...
> रंग अबीरी बांहों में घिर,
> गली-गली उद्दाम हो गई...
> हौले से आ बैठा फागुन...

द्वार पर एक धीमी-सी दस्तक होती है...लो, हम आ गये। अपने खाली पेटों और अभावों के जख्मों को अबीर से ढककर हमारा आह्वान करो।...आदमी करता है आह्वान। साल-भर की खुशी कहीं यों ही हाथ से न फिसल जाए।...

क्या मैं गम्भीर हो रहा हूं? लानत भेजिये। यही तो एक दिन हाथ लगता है, मजबूरन खुशी मनाने का।...आज की धूप और गर्मी (धधकती आंच की) अपने में समेट लेना जरूरी है। यही तो पाथेय है साल-भर के खुरदुरे सफर का।...वार्षिक बजट की तरह साल में एक ही बार तो आता है फागुन...कुछ छूटें, कुछ नये कर। वहां हरहाल में खुश। काहे से कि जवान बेटों की जवान हो...हाई कमाण्ड का फरमान हो...नये टैक्सों का ऐलान हो...या धर्मान्धों की किरपान हो...इन्हें झेलना ही पड़ता है।... जिस-जिस प्रदेश की जवान कलाइयों से चूड़ियां टूटती हैं, वहां का फागुनी दर्द...इस फागुन में कितने ही पंजाबी लाल जोड़ों का एक-एक तार कांटा बनकर चुभ रहा होगा उन हीरों के शरीर में जिनके रांझे एक वहशी जुनून की लहर में फना हो गये।...

चंग फिर बजती है...अबीरी चुटकियां व्याकुल हो उठती हैं उन गालों की तलाश में जिन्हें आज लाल-पीला होना है।...मौसम फिर हिलोरें लेने लगता है कविवर शिव प्रसाद 'कमल' की पंक्तियों की तरह—

> गुदगुदाने आ गया—फागुनी मौसम।
> कढ़ गये फिर बेल-बूटे—धूप के रूमाल पर
> इन्द्रधनुषी तितलियों के उड़ रहे हस्ताक्षर
> ...फागुनी मौसम...

मरने का शौक...तैयारियां

मरने और मरने में भी फर्क होता है। बहुत-से लोग मरने को भी खालाजी का घर समझते हैं। जहां कोई अच्छी सूरत देखी और तड़ से कह दिया कि हम फलां-फलां पर मरते हैं ; सचमुच मरने को कह दिया जाए, तो उन्हें नानी याद आ जायेगी।

यह कमबख्त जिंदगी की आखिरी हिचकी बड़ी जानलेवा होती है। सारा फोकस आउट हो जाता है। कुछ लोग इतने जल्दबाज होते हैं कि जिंदगी-भर भी कोई काम ढंग से नहीं कर पाते और मरने का भी कोई सलीका नहीं होता। बैठे-बैठे, बिना पूर्व सूचना के फट से आउट हो जाते हैं। मैं ऐसे मरने को मरना नहीं मानता। मेरा बस चले तो उन्हें फिर से जिंदा करके एक डांट पिला दूं कि भई, मरना है तो जरा सलीके, करीने से विधिवत् मरो जैसे कि आम तौर पर भले आदमी मरते हैं।

मौत कोई बिजली का बिल तो है नहीं कि तुरन्त अदा न किया तो लाइन कट जायेगी। जब इतने दिन जिंदा रहने की जहमत झेली है तो मरने के आइटम में भी दो-चार दिन लगा लो। आपके वक्त पर ऊपर न पहुंचने से कोई खुदा मियां के दफ्तर का काम नहीं रुक जायेगा। इसे ही अंग्रेजी में हम यों कहेंगे कि, टेक योर ओन टाइम इन डाइंग। मगर नहीं, कुछ लोगों को बिजली की-सी रफ्तार से मरने में ही लुत्फ आता है। जैसे कोई गाड़ी छूटी जा रही हो। खैर, इस मामले में मैं मरने वाले हजरत पर कोई जोर नहीं डाल सकता। अपने-अपने ढंग से जिंदगी जीने का हक सबको है; जिंदगी की फाइल क्लोज करने का भी हक अपने ढंग से होना चाहिए...

मर गये, सो मर गये ! छुट्टी हुई। मगर अफसोस यही है कि मरना सिर्फ यही पर खत्म नहीं हो जाता। सबसे ज्यादा इल्लत मरने के बाद होती है—मरे हुए शख्स को ठिकाने लगाने में। इस मामले में मुझे वे लोग बहुत अच्छे लगते हैं जो जीते-जी ही बाद तक का सारा बन्दोबस्त कर रखते हैं। कुछ लोग जीते-जी ही अपनी पक्की कब्र अपने फिट साइज की बनवा लेते हैं; सिरहाने पत्थर भी लगवा लेते हैं जिसपर तारीखे वफात (मृत्युतिथि) का कालम छोड़कर बाकी सब खुदा रहता है। मरने के बाद सिर्फ उन्हें कब्र में लिटाना-भर बाकी रह जाता है।

तुर्की के बारे में पढ़ा कि वहां एक सज्जन इतने दूरदर्शी हैं कि हर रात जाकर चंद घण्टे अपनी पक्की कब्र में लेट आते हैं, ताकि अभी से उसके अंदर लेटने की प्रैक्टिस हो जाए और बाद में किसी किस्म की कोई तकलीफ पेश न आए। इसे कहते हैं मरने के बाद की शराफत। कितनों में होती हैं ? कुछ ऐसे 'मृत्युप्रिय' हिंदू भाइयों के बारे में भी मैंने सुना है जो अपने हिस्से का कपड़ा, घी, लकड़ी, चंदन वगैरह पहले से खरीदकर अलमारी में लाक कर देते हैं, ताकि बढ़ती हुई कीमतों से परेशान न हों और जरूरी माल वक्त-जरूरत काम आ जाए। न ऊधो का देना, न माधो से लेना। अपना अन्तिम लगेज पहले से तैयार।...अब मौत जब चाहे आ जाए।

यद्यपि मुझे अभी तक मरने का कोई पूर्वाभास नहीं हुआ है, फिर भी पढ़-पढ़कर इस नतीजे पर पहुंचा हूं कि असली इल्लत और चखचख मरने के बाद आती है। मसलन यही कि अब इंडिया के मुकाबले रंगून में मरना ज्यादा महंगा हो गया है। कफन, शववाहक, अंत्येष्टि से लेकर कब्र तक का खर्चा इतना बढ़ गया है कि सुनते ही आदमी का दिल धक से करे और बंद हो जाए। कहा जाता है कि वहां अन्तिम संस्कार का औसत खर्च, २ से बढ़कर ३ डालर हो गया है। कब्र के स्थान की कीमत १२.३ डालर से बढ़कर ३७.५ डालर हो गयी है। इस सबसे घबराकर वहां पर नागरिकों की एक समिति बनायी गयी है ताकि अन्य देशों की तरह वहां भी मरना सस्ता किया जा सके।

वैसे तो मौत का दिन और जगह पहले से मुकर्रर होती है, फिर भी

आदमी को अपने भरसक यह कोशिश करनी चाहिए कि ऐसी जगह पर अपनी छुट्टी करे, जहां आवश्यक सामग्री मुनासिब कीमत पर उपलब्ध हो। इसका एक आसान तरीका यह है कि आदमी जगह-जगह से सामान के 'कोटेशन' ले ले और अन्तिम दिनों में वहीं जा बसे जहां का कोटेशन सबसे कम हो।

एक और तरीका भी हो सकता है। दस-बीस लोग मिलकर अपनी एक 'फ्यूनरल कोआपरेटिव सोसायटी' बना लें। फिर अपनी सोसायटी की ओर से टेण्डर मंगवाकर सबकी अन्त्येष्टि का ठेका एक ठेकेदार को दे दें कि भई, तुम्हीं हमें ठिकाने लगाओगे। सोसायटी के जो लोग जिंदा हों इस बात पर नजर रखें कि ठेकेदार मरे हुए आदमी की सामान-सप्लाई में कुछ गड़बड़ तो नहीं कर रहा है। जैसे-जैसे सोसायटी के सीनियर मेंबरान पार लगते जाएं, जूनियर मेंबरान उनके रिक्त स्थान की पूर्ति करते जाएं। क्रम चलता रहे और सबके सब मुनासिब कीमत पर भवसागर पार उतरते रहें।...

आप हंस रहे हैं? गलत बात है। मौत-अंत्येष्टि वगैरह की गंभीर बातों पर हंसना नहीं चाहिए। यह चिंतन का विषय है। समझदार आदमी वही है जो बुशर्ट-पैंट वगैरह का कपड़ा खरीदते वक्त लगे हाथों, बाई द वे, कफन के लट्ठे का रेट भी पूछ ले। इससे जरा तसल्ली रहती है कि मौत कितनी महंगी या सस्ती पड़ेगी।

मैं पुन: अर्ज करना चाहूंगा कि मरना कोई खालाजी का घर नहीं है। हो भी, तो हर किसीके खाला (मौसी) नहीं होती। हो भी, तो आज के जमाने में यह जरुरी नहीं कि खाला के पास अपना घर हो ही। आप इन सब बातों पर कृपया गंभीरता से विचार करें। जमाना ही कुछ ऐसा है कि जितनी इल्लतें जिंदा रहने में हैं, उससे ज्यादा मरने में है। एक इल्लत यह भी है कि मरने के बाद आदमी अपनी मौत के खर्च पर गंभीरता-पूर्वक गौर नहीं कर सकता। हर चीज की एडवांस प्लानिंग जरूरी होती है। वैसे हमारी यही दुआ है कि खुदा जो है, वह आपको लंबी उम्र दे। बाकी सब खैरियत है, फिलहाल...

घर का जोगी जोगड़ा

कुछ ही लोग होते हैं जो मुकद्दर के सिकंदर होते हैं। मसलन, यूनान का असली सिकंदर और इण्डिया के अमिताभ बच्चन। दोनों ने ही अपने देश में खूब नाम कमाया और विदेशों में भी। बल्कि सच कहिये तो असली सिकन्दर से ज्यादा मैं अमिताभ बच्चन को मानता हूं। नयी पीढ़ी भी मेरे साथ है जो अलेक्जेण्डर द ग्रेट के बारे में कुछ नहीं जानती... मगर अमिताभ के मोजों और बनियान तक का नम्बर जानती है। यह एक अच्छी बात है। जो युग प्रवर्तक हो उसी के बारे में पूरी नालेज रखनी चाहिए... खैर...

कुछ लोग मुकद्दर के पोरस होते हैं। मसलन रिचर्ड एटनबरो की फिल्म 'गांधी' और... मैं। हम दोनों ही घर के जोगी जोगड़े हैं... देश में हमारी कदर नहीं होती... विदेश में होती है। पहले मुझ अकिंचन को ही ले लीजिये। मेरी हास्य रचनाओं के कैसेट, सुना है, विदेशों में अच्छे बिके हैं... इधर मुझे अमेरिका से रचना पाठ का बुलावा भी आया है। मगर साहब, किसकी हैसियत है जो अपने लखनऊ का पुल झाऊ लाल छोड़कर वाशिंगटन जाये। न ढंग के कपड़े, न कायदे का ब्रीफकेस। मुझे हवाई जहाज में इण्डिया की नाक कटानी है क्या?... हिन्दी का लेखक आर्थिक रूप से बस इतना ही होता है कि चुपचाप अपने शहर में पड़ा रहे और राष्ट्रभाषा के उत्थान की नौटंकी पीटता रहे... अपने बारे में ज्यादा कहूंगा तो लोग सोचेंगे कि बड़ा तुर्रम खां बन रहा है आत्मप्रशंसा के ढोल बजाकर...

अब 'गांधी' पर आइये। असली गांधी के नाम पर देश में जो कुछ हो रहा है उसकी गरिमा से आप सब परिचित हैं... सरकारी दफ्तरों में टंगी

तस्वीरों तक ही सीमित रह गया है हमारा बापू और उसके आदर्श। मैं रिचर्ड साहब की फिल्म 'गांधी' की बात कर रहा हूं जो पूरी तरह घर का जोगी जोगड़ा...आन गांव का सिद्ध साबित हुई...सुप्रसिद्ध निर्देशक मृणाल सेन ने कहा कि 'गांधी' की स्क्रिप्ट उन्हें पसन्द नहीं आयी। मृणाल दा को ही क्या शायद पूरे बंगाल को 'गांधी' पसंद नहीं आयी; मनोरंजन कर से पूरी तरह मुक्त फिल्म 'गांधी' बंगाल में पहले ही सप्ताह में ढीली पड़ गयी। दूसरे सप्ताह में आधी रह गयी और तीसरे सप्ताह में ही कई सिनेमाघरों से हटा दी गयी...ठीक भी है। गांधी पूरे देश के थे, मगर बंगाल उन्हें तभी कबूल कर सकता है जब फिल्म में नेताजी और गुरुदेव टैगोर भी हों। क्या उनका योगदान कुछ कम था?...उधर महाराष्ट्र और गुजरात के बड़े शहरों में भी 'गांधी' को वह सफलता नहीं मिली जो मिलनी चाहिए थी। गांधी अपने ही देश में एक मामूली इन्सान बनकर रह गये। एक ऐसी तस्वीर सरीखे हो गये जो बरसों ताक में पड़े धुंधला गयी हो... बिल्कुल सरकारी दफ्तरों जैसी स्थिति हो गयी राष्ट्रपिता की, जिनकी तस्वीर पर मकड़ी के जाले घिरे रहते हैं और कोई उन्हें साफ नहीं करता। कितनी जल्दी अंधेरे में पहुंचा दिया हमने उसे जिसने हमारे हाथों में रोशनी की मशाल दी—मसीहाओं का मुकद्दर शायद ऐसा ही होता है।

उधर विदेशों में जरा 'गांधी' की सफलता देखिये। अब इसे आप चाहे 'गांधी' की छवि कह लें, या स्वयं सर रिचर्ड एटनबरो की, कि 'गांधी' ने अपने देश के बाहर भरपूर बिजनेस कर ली...अकेले अमेरिका और कनाडा टेलीविजन ने 'गांधी' के अधिकार २० करोड़ में खरीदे। जैसा कि एक समाचार में कहा गया है, 'गांधी' ने विदेश में कुल जमा ८० करोड़ की कमाई की है।' अस्सी करोड़—यानी 'शोले', 'मुगले आजम', 'अन्धा कानून' वगैरह से भी ज्यादा...इसे ही कहते हैं न कि घर का जोगी जोगड़ा आन गांव का सिद्ध। तन पर एक लंगोटी लगाये रखने वाले उस सच्चाई के नंगे फकीर के नाम पर ८० करोड़...लगता है जैसे भारत भूमि पर मोहनदास करमचन्द गांधी शायद सर रिचर्ड एटनबरो के लिए ही पैदा हुए थे। एटनबरो भी जानते थे कि वह यह तस्वीर विदेशी मार्केट के लिए ही बना रहे हैं। भारत में दिखाने के लिए रकम फंसानी होती तो

मारधाड़, गब्बर सिंहों और तांगेवाली बसंतियों से भरपूर कोई दूसरी 'शोले' या 'बम भोले' बनाते...मगर नहीं। जिस देश की राजनीति कदम-कदम पर गांधी के नाम और उसूलों का सौदा करती हो वहां विदेशी क्यों चूकें भला? फारेन मार्केट पर नजर डालकर हमारे इण्डियन प्रोडयूसरों के मुंह में पानी भर आया होगा। हाय, हमने क्यों न बना ली 'गांधी'—रिचर्ड मियां से भी अधिक पैसा लगा देते...दो-चार नाच-गाने, थोड़ी-सी चेज फाइट और ठूंस-ठांसकर एकाध उछालू किस्म की 'पर्दा है पर्दा' टाइप की कव्वाली डाल देते...फिर दौड़-धूपकर टैक्स माफ करा लेते 'गांधी' के नाम पर। टैक्स शर्तिया माफ हो जाता। जब एक सीन में गांधी, नेहरू, लालबहादुर की फोटो दिखाकर—एकाध देशभक्ति का गाना ठूंसकर टैक्स से छुटकारा पा लेते हैं, तो 'गांधी' पर क्यों न माफ होता? टैक्स कोई फिल्म की कथनानुसार थोड़ा ही माफ होता है; अपनी-अपनी टिप्पस की बात होती है। हे प्रभु, हमें पहले क्यों न याद आया कि गांधीजी थे, वे इण्डिया के थे? हाय बाप, इतनी ग्लैमर साबित हो गयी गांधी जैसे संत-फकीर के नाम में?

सो मेरा कहना यही है मित्रो, कि जिस तरह देश ने 'गांधी' फिल्म को कम आंका, उसी तरह मेरी भी अवहेलना हो रही है! हालांकि मेरी और 'गांधी' फिल्म का क्या मुकाबला?—फिर भी दूरअंदेशी की बात कहता हूं कि आज किसी को मेरे व्यक्तित्व वगैरह पर फिल्म बनानी हो तो बना ले। कल को मैं महंगा हो गया और किसी विदेशी की मुझ पर नजर पड़ गयी तो यह मत कहियेगा कि हाय, हमें खबर न हुई! आज आप मुझे घर का जोगी जोगड़ा समझ रहे हैं, कल को मैं आन गांव का सिद्ध हो गया तो मेरा कुछ नहीं बिगड़ेगा...भारतीय फिल्म प्रोड्यूसरान ही हाथ मलते रह जायेंगे।

अंधेरा गनीमत

मिर्जा मियां की ड्योढ़ी में अंधेरा था। सिर्फ दरवाजे पर एक पतली-सी मोमबत्ती महीने की तीस तारीख को बचे आखिरी रुपए जैसी टिमटिमा रही थी। अन्दर से सुड़ुप-सुड़ुप की आवाज आ रही थी। मिर्जा शायद अंधेरे में शोरवा पी रहे थे। मैंने आहिस्ता से आवाज दी, तो जैसे बासी कढ़ी में उबाल आ गया। कई कनस्तर लांघते और कई चारपाइयों के तले से अंधेरे में गुजरते हुए मिर्जा बरामद हुए और कूड़ेदान में झांककर पूछा, "कौन है?" मैंने कहा कि मैं हूं और इधर खड़ा हूं।

"बिजली चली गई क्या?" मैंने पूछा।

"जी नहीं, बराबर आ रही है। मुझे ही शौक है कि अंधेरे में अलगनी पर चमगादड़ जैसा उल्टा लटका रहूं।...सारा मुहल्ला अंधेरे में डूबा अपना ही चेहरा टटोल रहा है, और आप पूछ रहे हैं, चली गई! मैं कहता हूं कि आई ही कब थी जो जाने का गम हो? अप्पा साहब ने फोन ठोका था। पता लगा कि खम्भे की ऊंचाई पर ट्रान्सफार्मर या ऐसा ही कोई थर्मामीटर खराब है। जब ठीक होगा, तब आएगी।"

"ठीक कब होगा?" मैंने कुरेदा।

"जब खम्भे का मूड होगा। यह बिजली है, कोई कैन्सर का मर्ज नहीं कि ठीक हो जाए। काश, मैं अपने पूर्वजों की तरह बूजना (बन्दर) होता तो लपककर खम्भे पर चढ़ जाता और खुद टटोलता कि कौन-सा तार, बोल्ट या पेंच ढीला है।...हर शाम यों ही भक से घुप्प अंधेरा हो जाता है और आदमी अपनी परछाईं देखने को तरस जाता है। मैं ही तुम्हें कहां देख पा रहा हूं? मोमबत्ती की रोशनी में सिर्फ परछाईं देख रहा हूं कि

कोई मनहूस दोपाया खड़ा है।"

मेरी हंसी छूट गई। मिर्जा बमक गए:

"खबरदार जो हंसे! अंधेरे में कोई हंसता है तो मुझे जिन्नात का अन्देशा होता है। खुदा जाने रोशनी लाने वाले लोग क्या कर रहे हैं? जाने कब आएगी?"

"आ जाएगी। तुम अंधेरे में बहुत जल्दी उचकने लगते हो। मशीन है, कभी भी खराब हो सकती है।" मैंने दिलासा दिया। मिर्जा और भी फन-फना गए।

"क्या कहा? मैं अंधेरे में उचकता हूं? आपकी तरह वह परिन्दा तो हूं नहीं, जो अंधेरे में खुश रहता है। अब जो लाइट आएगी तो तूफान उठ खड़ा होगा। मैं और तुम्हारी भावज साथ-साथ खाना खा रहे थे। घुप्प अंधेरे में उनकी कटोरी का कोरमा भी सपोड़ गया। मेरी मूंग की दाल की कटोरी उधर सरक गई। कई निवाले अपना मुंह समझकर वह मुझे खिला गईं। लानत है इस अन्धेरे पर। इससे तो हमारे दादा मियां के टाइम की लालटेन अच्छी थी। अपना निवाला अपने ही मुंह में तो खाते थे! अब कहने को इतने बलफ (बल्व) लगे हैं घर में, मगर सब आंखें मूंदे बैठे हैं। जाने कब लाइन में करण्ट-शरण्ट दौड़ेगी?"

"तुम्हारे मुहल्ले में आए दिन यही शिकायत रहती है, मिर्जा! क्या कभी आती ही नहीं?'

"आए चाहे न आए...बिल तो पाबन्दी से आता है। वैसे दिन में आती है। दिन-भर सड़क के सारे बलफ जलते रहते हैं और शाम होते ही अपना फर्ज पूरा करके सो जाते हैं। दिन में अप्पा साहब के वहां से फोन ठुकवाए जाते हैं कि लाइट बुझवा दीजिए...और शाम होते ही चिल्लपों मच जाती है कि लाइट जलवा दीजिए।"

"बस, यही तुम लोगों की ज्यादती है, मिर्जा। जब वे लोग दिन में जला चुके, तब शाम को क्यों जलाएंगे? आखिर खम्भों और लाइन को भी आराम चाहिए। बेहतर है कि तुम लोग खाना-पीना, सोना और इश्क वगैरह दिन में निपटा लिया करो ताकि शाम के घुप्प अंधेरे में कोई काम बाकी न रह जाए।"

इतना सुनते ही मिर्जा लगभग अंधेरे में तहमद समेटकर उछले और चीखे :

'टुकड़ेबाजी बन्द करो। काश, जरा भी उजाला होता तो मैं तुम्हें इस चुहलबाजी की रसीद दे देता। मगर क्या करूं? तुम मुझे नजर ही नहीं आ रहे हो। सिर्फ आवाज से पता लगा रहा हूं कि तुम, तुम हो। मुहल्ले वालों की अर्जियों का भी कोई असर नहीं हो रहा है। परसों टाप खां का इकलौता नन्हा अंधेरे में गड़ाप से खुले मेनहोल में जा गिरा। आधी मेहरबानी कार्पोरेशन वालों की, आधी बिजली वालों की, छोकरा पाताल में जा लगा। कुछ लोगों का कहना था कि यह मेनहोल सीधे अरब सागर में खुलता है। चुनांचे कई लोग लालटेनें लेकर मोटर पर अरब सागर की तरफ भागे। एक-दो टार्च मुंह में दबाकर मेनहोल में उतरे। बच्चा बरामद हुआ। गनीमत थी कि ज्यादा टूटा-फूटा नहीं था।...मैं पूछता हूं कि आखिर शहर के हजारों तार, सैकड़ों खम्भे और कई-कई पावरघर इसलिए हैं कि मिर्जा के मुहल्ले के लोग एक-दूसरे का मुंह देखने को तरस जाएं?"

अंधेरा गनीमत जानकर मैं चुपके से सरक आया। अंधेरे लैम्प-पोस्ट की परछाईं पर मेरा धोखा खाकर मिर्जा धाराप्रवाह शिकायत करते ही रहे। मेन रोड तक आते-आते मैं खुद एक-एक जूता सम्भाल-सम्भालकर रख रहा था कि कहीं किसी खुशहाल मुंह खोले मेनहोल के हवाले हो गया, तो किसी खाड़ी देश से ही चिट्ठी घर भेजनी होगी कि मैं यहां हूं। बाकी सब बिजली वालों की दुआ से खैरियत है।

अपने फोन के पार्थिव शरीर पर विलाप

पहले परिवार में हम सब बोलने-बतियाने तथा कहने-सुनने वाले छः थे। बाद में सातवां आ गया। उसके आते ही परिवार में खुशी की लहर दौड़ गई।...सब उसीके इर्द-गिर्द जमा रहने लगे जैसे बौनों के गांव में ऊंट आ गया हो! उसके नर्म-ओ-नाजुक जिस्म की झाड़-पोंछ होने लगी। उसके लिए वार्निश की हुई चमचमाती लकड़ी का एक पालना बनवाया गया। पलना झूलें नन्द लाल। उसकी नन्ही-सी किलकारी पर सारा घर दौड़ पड़ता था कि देखें क्या कह रहा है लाडला। आप भ्रमित न हों। हमने परिवार की आबादी नहीं बढ़ाई। हम ६ ही थे—दो हम, और दो-दो हमारे। हुआ यों कि किन्हीं मनहूस क्षणों में हमने घर में फोन लगवा लिया।...पहले उसकी ट्रिन-ट्रिन बड़ी सुहानी लगती थी। काली मशीन पर लिपटे सफेद तार को देखकर बादल-बिजली वगैरा ही उपमा देने को जी करता था! फिर धीरे-धीरे पूत के पांव पालने में ही नजर आने लगे। जाने कहां-कहां से हमारे अनजाने सम्बन्ध जुड़ने लगे। मसलन हम तो नम्बर मिलाकर ट्रेन का टाइम पूछ रहे थे और उधर से कोई महिला हमें समझा रही हैं कि चौथे महीने में गर्भवती के खाने-पीने का ध्यान रखिये और हेल्थ-सेण्टर में आकर जांच करा लीजिये। पता लगा कि फोन खुद-बखुद रेलवे स्टेशन की बजाए किसी मेटरनिटी होम से लगा पड़ा है। जब-जब एडवांस बुकिंग के लिए किसी सिनेमा का नम्बर मिलाया तब-तब किसी थाने से किसी दरोगा की मूंछों-भरी गुर्राहट सुनाई दी और मुलजिम का नाम पूछा जाने लगा।...सही नम्बर का मिलना शुद्ध देसी घी के मिलने जैसा दुर्लभ हो गया। फिर वह स्थिति आ गई कि फोन ने हमें मुंह

लगाना छोड़ दिया। जहां हमने नम्बर घुमाकर कान लगाया कि शीं... फों फों...तिड़-तिड़...टी...पिट-पिट की आवाजें चालू हो गई। हम धारावाहिक हलो···हलो चीखते रह गये और कोई दो अन्य तेल-प्रेमी लाइन पर कड़वे तेल के भाव पर लड़ते रहे। कभी-कभी लाइन बिना ही लाइन मिल गई और कोई दो नारी स्वर जबरदस्ती हमें ऊनी ब्लाउज के सीधे और टेढ़े फंदे समझाने लगे। हमने लाख समझाया कि देवी, न हम फिलहाल ब्लाउज पहनते हैं न भविष्य में पहनने का इरादा रखते हैं...पर हर बार डांट पड़ी, "तुम चुप रहो जी...बात करने दो।"...हम चुप रहे और आदर-भाव से कान लगाए ब्लाउज समझते रहे।...फिर आधी-आधी रात गये किन्हीं कर्नल मंझोले की तलाश हमारे फोन पर शुरू हुई। हमने जाग-जाग कर, कसम दिला-दिलाकर यकीन दिलाया कि हमारी कई पुश्तों में किसी को राइफल की सही स्पेलिंग याद न हो पाई...हम कर्नल कैसे हो सकते हैं? मगर उधर से अगला अड़ा रहा कि मंझोले का यही नम्बर है और मुझे उनकी खैरियत पूछनी है। मजबूरन हमें कहना पड़ा कि कर्नल मंझोले मजे में हैं और कहीं लड़ाई पर गये हैं।

इन सारी खूबियों के बावजूद हमें अपने फोन पर गर्व था कि कम से कम एक चीज बहुत नियमित है...फोन का बिल।...मौत के निर्धारित दिन की तरह बिल हमेशा निर्धारित तिथि को आता रहा, और हम कर्नल मंझोले या ब्लाउज के फंदों का बिल लगातार अदा करते रहे। महीने में एक-दो बार सही जगह भी बात हो जाती थी, मगर कई खण्डों में। कई बार नम्बर मिलाकर ही गतांक से आगे की बात पूरी कर पाते थे।...फिर वह दिन आया जब फोन ने सदा के लिए मुंह-कान मूंद लिए। धड़कनें बंद हो गईं और मुखश्री में गंगाजल डालने के पूर्व ही अगले के प्राण पखेरू उड़ गये।...हमने चैन की सांस लेकर कुछ देर फोन के सिरहाने गरुड़ पुराण का पाठ किया। फिर सोचा, अड़ोस-पड़ोस से उसके परिवार वालों को सूचना दे दें कि या तो इसमें प्राण फुंकवाओ या इसका पार्थिव शरीर उठवा ले जाओ। मुहल्ले में जिस-जिस फोनधारी के यहां गये वही अपने-अपने फोन के जनाजे की रखवाली कर रहा था। ...सिर्फ एक साहब के यहां लाइन जरा-जरा जीवित थी। हमने सूचना

दी तो उधर से जवाब आया कि आपका फोन मरा नहीं है बल्कि हमने खुद उसका गला काट दिया है! आपने बिल नहीं जमा किया है।...पचास रुपये पेनल्टी समेत पूरा बिल अदा कीजिये तो पुनः प्राण फूंके जा सकते हैं। ...हमारे पैरों तले का अर्थ वायर फ्यूज हो गया। हमारा पिछला बिल बाकायदा जमा था और अगले की कोई सूचना नहीं थी। न ही फोन कटने की कोई इत्तला हमें मिली थी।...पर कर क्या सकते थे? जब हाथी पाला है तो गन्ने का बंदोबस्त करना ही होगा। दो सौ रुपयें नकद अदा करने थे। हमारे खानदान में भूतपूर्व दादाजी दो सौ रुपये की दवाइयों के अभाव में दुनिया से मुंह मोड़ गये थे मगर फोन को हमें जिन्दा रखना था। लाख मिन्नत-समाजत की कि साहब, हमें बिल मिला ही नहीं। मगर अगलों ने एक न सुनी और अड़े रहे कि आपको पता करना था कि क्यों नहीं मिला? फोन पर ही पूछ लेते कि फोन डेड क्यों है? अब उन्हें कौन समझाता कि साहब, मुर्दा लाइन पर बात करने की तकनीक अभी तक कोई इंजीनियर नहीं सीख पाया! खैर···जमा किए दो सौ!...मगर इन पंक्तियों के लिखते तक अभी फोन में जीवन का कोई लक्षण नहीं जागा है।...आस के सहारे बैठे हैं कि कभी तो लहर वापस आयेगी और फोन के ठंडे जिस्म से कुछ शीं...फों...की आवाजें जारी होंगी।···

अब यहां पर चलते-चलाते एक माकूल प्रश्न उठता है कि जब इतना दुख दिया पांचवीं औलाद ने तो उसे पाला ही क्यों? फोन लगवाने की जरूरत क्या थी?...सही है। जब अपना ही कुत्ता काटता है तो पहला प्रश्न लोग यही करते हैं कि कुत्ता पाला क्यों था? जवाब यही है कि कटवाने का शौक चर्राया था।...महानगरी में रहकर खुद को लेखक मनवाने के लिए लिखना उतना जरूरी नहीं होता जितना फोन रखना होता है। ···लोग यह नहीं देखते हैं कि छपा कितना है। पहले यह देखते हैं कि घर पर फोन लाइन ठुकी है या नहीं? अगर ठुकी है तो स्थापित लेखक है... वरना नवोदितों में शुमार होता है!...

बहरहाल फोन का जनाजा अब भी घर पर जूं का तूं रखा है। चमक और चिकनाहट वैसी ही है,..सांसें गायब हैं।...लगता है जैसे भरी जवानी में कोई सोलहों सिंगार करके...जहर की गोलियां गटक कर सो गया हो।

अमृता प्रीतम जी ने सच ही कहा है कि, 'सब कुछ खर्च करने के बाद जो बाकी बचता है, वही तो जिन्दगी का अर्थ होता है...जिन्दगी न सही, पर अर्थ बाकी रह जाता है।' सो, वैसे ही, डायल टोन न सही, फोन तो बाकी है जो मेरी मेज पर मेरे फोटो की बगल में सजा धरा है...यही काफी है।...

वक्त नहीं कटता है

तो साहबो, पहले नमस्ते, राम-राम, सतसिरी अकाल और सलाम ! अब आप पूछेंगे कि ऐ खुदा के बंदे, तुझे तकलीफ क्या है इस बार ? मैं सिर्फ एक शेर पढ़ूंगा :

वक्त की बात है कि वक्त नहीं कटता है।
वरना क्या वक्त के कटने में कभी वक्त लगा ?

सो हुजूर, तकलीफ सिर्फ इतनी है कि वक्त नहीं कटता है। लोग-बाग पूरी उम्र काट देते हैं, मगर शिकायत यही रहती है कि वक्त नहीं कटता। ताश खेलते हैं, गप्पें लड़ाते हैं, कान खुजलाते रहते हैं; मगर वक्त नहीं कटता। पत्थर कट जाते हैं, जवानी कट जाती है, बुढ़ापा कट जाता है, जेबें कट जाती हैं, पर वक्त नहीं कटता। बड़े भाग्यशाली हैं वे जो इतने बिजी हैं कि नाक पर बैठी मक्खी नहीं हटा पाते। उनके पास टाइम ही नहीं है कि मक्खी हटा सकें। इधर हम हैं कि नाक पर मक्खी ही नहीं बैठती कभी कि उसे हटाने में कुछ वक्त कटे।

काश, मैं महिला हुआ होता और स्वीडन में रहता होता तो वक्त काट लेता। सो कैसे ?...अब चूंकि वक्त काटना है तो आपको किस्सा सुना ही दूं। हुआ यों कि स्वीडन के एक शहर में एक महिला हैं, जिनके पास अन्य पालतू पशु-पक्षियों के अलावा एक अदद बाकायदा पति भी है। हालांकि आस-औलाद नहीं है, पर सुख-सुविधा के सारे साधन मौजूद हैं।

मेरी और इन महिला की प्राब्लम एक ही थी—वक्त नहीं कटता। मगर उन्होंने हल ढूंढ़ लिया है और अब पति-पत्नी दोनों खुश हैं। महिला ने अपने पति को चांटे मारने का शौक पाल लिया है, और अब वक्त

बखूबी कट जाता है···चांटा जानते हैं न ? जी हां, इसे अगर धीरे से रसीद किया जाए तो 'चपत' कहलाता है और अगर कुछ अधिक फोर्स से लगा दिया तो 'थप्पड़' कहते हैं। चपत, चांटा और थप्पड़ सबमें क्रिया एक ही है, सिर्फ फोर्स और गुस्से का फर्क है।

इन महिला में एक खास बात यह है कि वे चांटा नाराजगी में नहीं मारतीं, बल्कि सिर्फ वक्त काटने के लिए ही मारती हैं। जहां बोर होने लगीं, पति को बुला लिया। प्यार से कहा कि डियर, मेरा वक्त नहीं कट रहा है। पति महोदय ने रूमाल से पोंछकर गाल आगे कर दिया। पत्नी ने पातिव्रत्य की पूरी निष्ठा के साथ तीन-चार चांटे रसीद कर दिये और फिर प्यार-मनुहार से माफी मांगी। वक्त कट गया।

दिन-भर में यही क्रम आठ-दस बार चलता है और पति परमेश्वर के गाल सुर्ख टमाटर बने रहते हैं। कोई गिला-शिकवा नहीं, कोई पुलिस-अदालत नहीं। प्रेम का सौदा है।

प्रकाशित समाचार के अनुसार, उसी कस्बे में इन महिला की देखा-देखी कुछ और महिलाओं ने भी यह शौक पालने की कोशिश की। मगर या तो पति महोदय का जवाबी थप्पड़ खा गयीं या फिर पुलिस बुलानी पड़ी। भाग्यवान् हैं श्री और श्रीमती पीटर जैकब कि चुपचाप घर के अंदर शौके-चांटाबाजी सलामत है और दोनों में अगाध प्रेम है। भगवान् करे कि जैसे सुख-चैन से पीटर की गुजर रही है, सारे पतियों की गुजर जाए। प्यार भी पुख्ता होता है, जबड़े भी मजबूत होते हैं।

पहले तो यह खबर पढ़कर मन में लालच आया कि लाओ, वक्त काटने के लिए मैं भी यही शौक अपना लूं। मगर इसमें कई बुनियादी इल्लतें आड़े आ गयीं।...एक तो यह कि पत्नी बाल-बच्चों में बेहद व्यस्त रहती है। उसके पास इतना टाइम कहां कि मुझे ओब्लाइज कर सके। कभी हाथ आटे में सने हैं, कभी कपड़े धो रही है। हाथ खाली ही नहीं रहता। दूसरा खतरा यह भी है कि प्रभुकृपा और उसके मैके वालों की अनुकंपा से उसकी सेहत मुझसे बीस ही है। खुदा न ख्वास्ता वक्त काटने की इस स्वीडिश शैली के शौक में अगर उसका हाथ कहीं तगड़ा पड़ गया तो पता नहीं मुंह के बकाया दांत नाक आउट कर जाएं, चश्मा कहां जा

गिरे और चेहरे का भूगोल जाने कैसा-कैसा बदल जाए ? सिर्फ वक्त काटने के लिए इतना विशाल अभियान ठीक नहीं।

एक और इल्लत इसमें यह भी है कि भारतीय पत्नी के संस्कार आड़े आते हैं। मैं जानता हूं कि प्रायः पत्नियों की इच्छा होती है कि श्रीमती पीटर की तरह पति-पूजन करें। मगर नहीं। पड़ोसी क्या कहेंगे ? दस जगह थू-थू होगी। छवि का प्रश्न उठ खड़ा होगा। चुपचाप दांत पीसकर टाल जाना ही ठीक है। यही परेशानी मेरे साथ होगी। उधर मेरा वक्त काटने का मूड हो रहा होगा, इधर इनका हाथ ही नहीं उठेगा कि हाय, शोहर को कैसे चांटा रसीद करें। पति को दुख देने के हजारों अन्य तरीके हैं, फिर डाइरेक्ट एक्शन लेकर बदनामी क्यों मोल ली जाए।

अब अगर इसी नेक काम के लिए, पीटर जैसी ख्याति अर्जित करने के लालच में, मैं किसी और की पत्नी का सहारा लूं, तो अपनी पत्नी भड़क जायेगी। चरित्र पर संदेह करने लगेगी कि दूसरे की बीवी की मदद क्यों ले रहा है ? क्या मेरे हाथ टूट गये थे कि चार चांटे न रसीद कर पाती ?

अतः मित्रो, भारतीय पति हर तरह से मजबूर है। उसके पास स्वीडन जैसी सुविधाएं नहीं हैं कि प्यार भी बढ़ता रहे, वक्त भी कटता रहे और चांटानवीसी भी होती रहे। शायद यही कारण है कि मजबूर होकर भारतीय पति को वक्त काटने के लिए ऊलजलूल तरीके तलाश करने पड़ते हैं। पर अब वक्त आ गया है कि शौहरों को ताश, सिनेमा, गप्प-बाजी आदि से दूर रखने के लिए स्वीडिश शैली पर ध्यान दिया जाए। स्वीडन एक संपन्न देश है। चांटेबाजी एफोर्ड कर सकता है। हम जरा नफासतपसंद हैं। टाइम पास करने के लिए पति-पत्नी प्यार-भरी, नरम-नरम चपतबाजी करें—इतने महीन ढंग से जैसे कोई गाल को फूलों से छू रहा हो। वक्त कटेगा...प्यार बढ़ेगा...वगैरह-वगैरह।

आप यह न समझें कि यह सब मैंने वक्त काटने के लिए लिख मारा है। संयोग से मैं गंभीर हूं। चांटेबाजी यों भी एक गंभीर विषय है। समस्या सही ढंग से वक्त काटने की है कि पैसा भी खर्च न हो और घर ही घर में प्यार से वक्त भी कट जाए।...आपके सुझाव आमंत्रित हैं।

पुस्तकें चुराने के शौकीन

अब आप मेरी बात मानो, तो सबसे अच्छे वे हैं जो किताबों का झंझट ही नहीं पालते और भैंस को अकल से ज्यादा बड़ा मानते हैं। जिन्हें किताबों का शौक है उन्हें या तो बिला वजह पैसा खर्च करना पड़ता है या लाइब्रेरियों से किताबें तिड़ी करनी पड़ती हैं ! अपने देश में लाइब्रेरियों का एक अच्छा उपयोग यह भी है कि यहां जितनी किताबें पढ़ी नहीं जातीं, उससे ज्यादा गायब हो जाती हैं ! जिस प्रकार रेलें देश की सम्पत्ति हैं और सम्पत्ति गायब करने या फूंकने के लिए होती है—उसी प्रकार लाइब्रेरियां भी देश की सम्पत्ति हैं और पुस्तकें तिड़ी कर लाना हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है ! मेरे ही एक अजीज मित्र हैं जिन्हें अभी तक यह नहीं मालूम कि 'अज्ञेय' और 'बच्चन' कवि हैं या क्रिकेट खिलाड़ी। मगर इनके कमरे की अलमारी में 'अज्ञेय' और 'बच्चन' की वे-वे दुर्लभ पुस्तकें मौजूद हैं जिनके बारे में स्वयं उन लेखकों को भी याद नहीं होगा ! लाइब्रेरी की कृपा से मित्र की अलमारी फल-फूल रही है और स्वयं लाइब्रेरी की काया दुबली होती चली जा रही है। मित्रवर अक्सर इन अपहरण की गई किताबों की झाड़-पोंछ इत्मीनान से करते रहते हैं और 'निराला' तथा गुलशन नन्दा को एक जैसा लेखक मानकर उन्हें बगल-बगल सजाए रहते हैं !...उनके इस गोदाम में दो-चार पुस्तकें मेरी भी हैं जो मेरी गफलत के किन्हीं क्षणों में उन्हें उपलब्ध हो गई हैं !...बहरहाल, मुझे गर्व है कि चोरी से ही सही, वे मुझे भी उठा ले गये हैं और अपनी अलमारी में अन्य पढ़े जाने वाले लोगों के बीच स्थापित कर रखा है !...

किताबों के शौकीनों में एक नाम आता है सम्राट् रिचर्ड बूथ का !

यह हजरत जिस सिंहासन पर बैठते हैं वह भी किताबों का बना हुआ है ! अब रिचर्ड का इरादा ६० मीटर ऊंची किताबों की एक मीनार बनवाने का है जो उनकी कीर्ति और यश की गाथा को चिरस्थायी बनाए रखेगी। रिचर्ड का दावा है कि वे दुनिया के पहले 'किताबी किंग' हैं। यहां पर आप यह भी नोट कर लो कि एक भी किताब रिचर्ड ने अपने पैसे से नहीं खरीदी है। ये पुस्तकें कहां से आईं, आप खुद रिचर्ड जी से पता करो।

संसार की अन्य ललित कलाओं की तरह किताबें चुराना भी एक फाइन आर्ट है।...आपने साबुन का एक विज्ञापन सुना होगा...'भला उसकी कमीज मेरी कमीज से ज्यादा सफेद क्यों ?'...यही हाल किताबें चुराने वाले का भी है कि, भला लाइब्रेरी में के० पी० सक्सेना की पुस्तक क्यों ? मेरी अलमारी में क्यों नहीं ? बस जी, पलक झपकते ही के० पी० सक्सेना लाइब्रेरी से खिसककर कोट की जेब में...और फिर अगले की अलमारी में। समुद्र में से अगर दो लोटे पानी कम हो जाए तो समुद्र की सेहत पर क्या असर पड़ता है ? इसी प्रकार अगर लाइब्रेरी से कुछेक किताबें 'इधर-उधर' हो जाएं तो कौन-सा बेचारी लाइब्रेरी का सुहाग छिन जायेगा ?...भारतीय लाइब्रेरियों के निरन्तर पनपते रहने में इन विशिष्ट पुस्तक प्रेमियों का महत्त्वपूर्ण योगदान है ! कुछेक 'पुस्तक उड़ाऊ' प्रेमी मैंने ऐसे भी देखे हैं जिन्हें इससे कोई मतलब नहीं कि पुस्तक किस विषय पर है। बस, झटक लेने से मतलब। चाहे पुस्तक सेक्स विज्ञान पर हो या करेला पकाने की विभिन्न विधियों पर।...उनके लिए बराबर। ...जिस प्रकार दान की बछिया के दांत नहीं गिने जाते, उसी प्रकार चोरी की किताब का विषय नहीं देखा जाता। बस, किताब होनी चाहिए।

हमारे शहर की एक लाइब्रेरी इसीलिए प्रसिद्ध है कि वहां जितनी किताबें इशू नहीं होतीं उससे अधिक वीर गति को प्राप्त हो जाती हैं। लाइब्रेरियन महोदय भी ऊंघते रहते हैं कि जो किताब नोट कराए उसका भी भला, जो न नोट कराए उसका भी। साहित्य के प्रति ऐसा उदार दृष्टिकोण कम ही देखने को मिलता है।...चोरी के इन्हीं उदार क्षणों में एक हजरत लाइब्रेरी से शहनशाह बाबर की जीवनी खींच लाए। मैंने पूछा कि भला आप शहनशाह बाबर का क्या करोगे ? वे तैश में आ गये

और बोले कि मैं यह सहन नहीं कर सकता कि इतना बड़ा सम्राट् लाइब्रेरी की धूल में दूसरे छोटे सम्राटों के बीच दबा पड़ा रहे। सो, उठा लाया। उनके इस तर्क के प्रति मैंने तो माथा टेका ही...शायद सम्राट् बाबर भी कब्र में खुश हो गया हो कि एक तो मिला जिसने मेरी कद्र जानी।... इन हजरत का इरादा है कि इतिहास के अन्य सम्राटों को भी वे इसी तरह लाइब्रेरी की कैद से मुक्त कराकर ही दम लेंगे।...अच्छा काम है।

विद्यालयों और विश्वविद्यालयों की लाइब्रेरियों के जीर्णोद्धार में हमारे कुछेक अति मेधावी छात्रों का बहुत बड़ा योगदान है। मेरे ही एक रिश्ते के भतीजे हैं जो आज एम० ए० करके भारतीय परम्परानुसार नौकरी के लिए नगरी-नगरी द्वारे-द्वारे भटक रहे हैं। इन्हें गर्व है कि अपने पूरे छात्र जीवन में पुस्तकों के मामले में यह जनाब कभी मां-बाप पर बोझ नहीं रहे। जितना पाठ पढ़ना होता था उतना लाइब्रेरी की पुस्तक से फाड़ लाते थे। किताब की चोरी कभी नहीं की।...सिर्फ पन्ने फाड़ लाते थे और अन्ततः घर पर ही पूरी किताब बन जाती थी।...देश में अभी ऐसे परम गुणी छात्रों की कमी है...वरना पाठ्य पुस्तकों की समस्या चुटकी बजाते-बजाते हल हो सकती है।

इसी पवित्र परम्परा में कुछ आदरणीय जन ऐसे भी हैं जो पुस्तक का सम्पूर्ण अपहरण नहीं करते। सिर्फ उसका सतीत्व लूटकर उसे रिहा कर देते हैं। अर्थात्, पुस्तक में जितने विचार लेखक के नहीं होते, उससे अधिक अपने व्यक्त करके पूरी पुस्तक की छपाई सुधार देते हैं। कुछेक पुस्तकों में मुझे प्रेम और रोमांस के ऐसे-ऐसे वाक्य हस्तलिखित मिले हैं जो कालिदास और 'बिहारी' के बूते के भी नहीं हैं। मैं जानता हूं कि ये शब्द मेरे जैसे खटरूस के लिए नहीं लिखे गये। मगर हां, कभी तो कोई कन्या इस पुस्तक को लाइब्रेरी से इशू करायेगी और प्रेमी मन की पुकार सुनेगी ही।...अतः इस प्रकार के परम पवित्र प्रेम प्रकरण में भी लाइब्रेरियों का अच्छा-खासा योगदान है।...लाइब्रेरी की ही पुस्तक में मैंने किन्हीं सज्जन का एक हस्तलिखित वाक्य पढ़ा—'इस किताब को पढ़ने वाला गधा है।' मैंने पूरी पुस्तक पढ़ डाली।...मन में एक कामना थी यह जानने की कि गधत्व को प्राप्त होने के लिए किन गुणों की आवश्यकता

होती है?...

अतः संसार के सारे साहित्य में मैं उसी साहित्य को अब श्रेष्ठ मानने लगा हूं जो पढ़ा भले न जाए, मगर चुराकर घर ले आया जाए।... पिछले ही महीने मेरी अलमारी से चार किताबें चुपचाप मुक्त हो गईं। मैं अपने मित्रों का आभारी हूं जो मुझे एक श्रेष्ठ साहित्यकार (चुराने योग्य) बनाने पर तुल गये हैं।...

बच्ची का नाम

अपने इण्डिया में और चीजों के अलावा 'आजादी' की भी कमी नहीं है। अमर शहीद चन्द्रशेखर आजाद और स्व० मौलाना आजाद तो आजाद थे ही, छोटे-मोटे शायर और कवि भी नाम के आगे 'आजाद' लगाने लगे। यह अलग बात है कि घर-गृहस्थी और दाल-रोटी की जंजीरों में जकड़े हैं। एक पल अपने ढंग से सांस लेना कठिन है मगर तसल्ली के लिए नाम के साथ 'आजाद' जुड़ा है। यह बहुत बड़ी उपलब्धि है। यही क्या कम है कि हमारे यहां नाम के साथ 'आजाद' या स्वतन्त्र लगाने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं। हुए होते कहीं स्पेन में तो पूछता। सो क्यों ? बताते हैं।...

स्पेन की राजधानी मैड्रिड में एक हैं नूनेज सुकोज।...इन सज्जन के घर एक कन्या जन्मी जिसका नाम वह 'लिबर्टी' (आजादी) रखना चाहते थे, मगर जब नामकरण के रजिस्ट्रेशन की नौबत आयी तो हुकूमत वालों ने तड़ से इनकार कर दिया कि आप 'लिबर्टी' नाम नहीं रख सकते। नूनेज साहब भी अड़ गए कि कानून से लड़ेंगे। फट से अदालत में मुकदमा ठोंक दिया जो काफी अर्से चला। फैसला नूनेज के ही पक्ष में हुआ... मगर किस कीमत पर ? अदालती खर्च में नूनेज इतने फक्कड़ हो गए कि बिटिया लिबर्टी की सालगिरह पर मेहमानों को सिर्फ एक-एक कप चाय ही पिला सके। कुल मिलाकर ५ हजार पौण्ड फुंक गए हजरत के।... 'लिबर्टी' नाम की इतनी कीमत अदा करनी पड़ गयी गरीब को।... आजादी कोई फोकट में थोड़े ही हासिल हो जाती है।...

अब आप अपने देश में लौट आओ। हमारे यहां आजादी की क्या कीमत है ? 'आजाद' नाम रख लेना और बात है...आजादी से सांस लेकर

जीना अलग चीज है। जहां रोशनी का सूरज सिर्फ चन्द लोगों की स्वार्थी मुट्ठियों में कैद हो, वहां आजादी की किरण हर आंगन तक नहीं पहुंच सकती। जहां बरखा के गीत लिखने वाला प्यासा मर रहा हो...धरती का सीना चाक करने वाला अनाज के दानों को तरस रहा हो...मीलों कपड़ा बुनने वाला लिबास को तरस रहा हो, वहां आजादी की कीमत आप खुद जोड़ सकते हैं। मेरे ही एक कवि मित्र हैं...नाम के आगे बरसों से 'आजाद' जोड़ते चले आ रहे हैं मगर हर रात तन्हाई में मुंह ढांपकर सुबकते हैं कि पढ़ा-लिखा जवान बेटा दो रोटियां कमाने को दर-दर भटक रहा है। न उसके पास ऊंची कुर्सियों के दस्तखत वाले सिफारिशी पर्चे हैं, न वह मोटी रकम, जिसे अदा करके किसी नौकरी के दरवाजे में दाखिल होने का पासपोर्ट बनता है। कई बार उनसे मजाकन कहा कि अपने नाम के आगे से 'आजाद' हटा दो। उनके अन्दर का दर्द उनके चेहरे पर बुझे हुए चूने की मुस्कराहट जैसा फैल गया। लगता था जैसे 'आजाद' उपनाम रखकर खुद पछता रहे हों। ...उधर स्पेन वाला बेटी का नाम 'आजादी' रखने के लिए छटपटा रहा था। भारत-स्पेन में शायद यही फर्क है, मित्रो।

क्या हमारे देश में किसी बेटी का बाप ईमानदारी से अपनी कन्या का नाम आजादी रख सकता है ? आजादी ही मुकद्दर में होती तो घर में कन्या काहे को पैदा होती ?...जिस देश में बेटियां इतनी हल्की होती हों कि उनके वजन का पासंग बराबर करने के लिए साथ में टी० वी०, फ्रिज, स्कूटर बांधना पड़े वहां कौन बाप लाड़-प्यार से बेटी का नाम 'आजादी' रख सकता है ? ऐसे कुछेक बाप ही हैं, जिन्हें देश की आजादी ने यह हक दिया है कि अपनी बेटी को सोने के बराबर तोल सकते हैं और उसका नाम 'आजादी' रख सकते हैं।...

आज के सन्दर्भ में 'आजाद' या 'स्वतंत्र' कुछ ऐसे उपनाम हैं जो पत्थर की आंख जैसे हैं। आप उसे चेहरे पर सजा सकते हैं...उससे देख नहीं सकते। उनके हिस्से की आजादी सिर्फ उनके नाम तक ही सीमित है। आजादी बादलों की तरह कोई हल्की-फुल्की चीज नहीं होती। आजादी एक पूरा जमाना होता है और जमाना कभी हल्का नहीं होता। 'आजाद'

नाम रखकर लोग उम्र-भर गलत दरवाजों पर दस्तक देते रहते हैं और अपने हिस्से की आजादी उन्हें कभी नहीं मिलती। सिर्फ आत्मसन्तोष के लिए आग के दरिया पर मोम का पुल बना लेते हैं कि हां, हम आजाद हैं। आजादी सिर्फ वह ही नहीं होती जो बड़े-बड़े समारोहों में बैंड बाजों की धुन पर सजाई जाती है। आजादी वह भी होती है जो भूख बनकर आंतों में रेंगती है और ठण्डक बनकर अधनंगे जिस्मों को ठिठुराती रहती है। टूटती चूड़ियों का बेपनाह दर्द और कुलबुलाती आंतों की तड़प आजादी नहीं समझ पाती।

कुल मिलाकर, स्पेन के नूनेज साहब अगर भारत में होते तो शायद अपनी बेटी का नाम आजादी रखने के लिए मुकदमा न लड़ते। हर्गिज न लड़ते। खुद ही ख्याल दिल से निकाल देते कि बेटी का नाम 'आजादी' रखना है। बच्चा जब तक हमारी आंखों में झांकता है, परछाइयां बड़ी मासूम लगती हैं। पर बच्चे के बड़ा होते ही उसकी आंखों में अभावों के कांटेदार जंगल उग आते हैं।

उसे अपनी कीमत का एहसास होने लगता है। इन हालात में कोई भी बच्चा अपना नाम 'आजादी' रखने में हिचकिचाता है। चुनांचे यह नाम स्पेनवासी नूनेज की बेटी पर ही अच्छा लगता है।

मन रे, तू न बना अमिताभ

बहुत-से लोग अपने जीते-जी ही एक कुतुब मीनार का दर्जा हासिल कर लेते हैं, और आने-जाने वाले उनकी ऊंचाई पर नजर फेंककर एक ठंडी आह भरते हैं, हाय हम न हुए !

ऐसे ही एक छह फुटे कुतुब मीनार का नाम है अमिताभ बच्चन ! मैंने इस कुतुब मीनार का बचपन देखा है जब इसका साइज मूली से कुछ ही ज्यादा था, बड़ा प्यारा बच्चा था। अक्सर जिन बच्चों को बड़े होकर नाम कमाना होता है, वे बचपन में बड़े प्यारे होते हैं। आज भी इलाहाबाद में कई लोग कहते हैं, "हम जानते थे कि यह बच्चा अमिताभ बड़ा होकर अमिताभ बच्चन बनेगा !" अमिताभ ने मुहल्ले के बुजुर्गों का कहा नहीं टाला और अमिताभ बच्चन बन गया। अच्छे बच्चे ऐसे ही होते हैं, वह जानता था कि अगर वह अमिताभ बच्चन नहीं बना, तो कोई और नहीं बन पाएगा ! इसी कारण वह बन गया कि इंडस्ट्री में अमिताभ बच्चन की वेकेंसी खाली न पड़ी रहे। उन लोगों की भी बात रह गयी जो कहते थे कि अमिताभ बड़ा होकर शर्तिया अमिताभ बनेगा।

मेरे मुहल्ले में दूर-दूर तक कोई पिता कवि नहीं हैं, मगर अमिताभ बच्चन कम-से-कम ढाई दर्जन हैं। जिनका कद फरवरी जैसा छोटा है वे भी मिलिट्री बूट में चार इंच मोटा सोल लगवाकर लैंप पोस्ट छूने की कोशिश करते हैं। उन्हें अमिताभ बच्चन जो बनना है ! राम जाने भारतीय सिनेमा में कितने अमिताभ बच्चनों की जरूरत है ? जिसके मुंह पर जरा-जरा मूंछें आयीं वही अमिताभ बच्चन बनने की तैयारियों में लग पड़ा। किसीने यह नहीं कहा कि मुझे मुकरी, आगा या धूमल बनना,

है! जब बनना ही है तो अमिताभ क्यों न बनें ?

मुझसे कई लोगों ने पूछा कि अमिताभ बच्चन आखिर अमिताभ बच्चन क्यों बना? कैसे बना? किसीने अमिताभ से यह नहीं पूछा कि मैं के० पी० सक्सेना ही क्यों बना? कई लड़के यह भी पूछते हैं कि वे अमिताभ क्यों नहीं बन पा रहे हैं? आखिर वह कौन-सा मसाला, लेप या केमिकल है जो अच्छे-भले नौजवान को अमिताभ बना सकता है? मेरे ही मुहल्ले से कई भागे अमिताभ बनने! अपनी सारी लंबाई, आवाज और खोपड़ी की हेयर स्टाइल समेत बंबई प्लेटफार्म पर उतरे! मगर जब घर वापस लौटे तो इस कदर खुश्क हो चुके थे कि उनके मां-बाप को उनका चेहरा उनके भूतपूर्व फोटो से मिलाना पड़ा। तब कहीं जाकर पहचान पाए कि यह हमारी ही औलाद है जिसे अमिताभ बनना था मगर कनखजूरा बनकर वापस लौटा है। लोगों के सवाल-जवाब से तंग आकर मैंने एक बार खुद अमिताभ से पूछा कि भई, तू तो बन गया अमिताभ बच्चन, दूसरों को भी बनने में मदद कर! धरम का काम है! लोग-बाग तेरी माला जपेंगे कि अमिताभ खुद भी अमिताभ बच्चन बना, हमें भी बना दिया। देश का भी सौभाग्य होगा कि न सही डाक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर, लेखक, हमारे पास ढेरों अमिताभ बच्चन तो हैं। हम चाहें तो काफी अमिताभ को एक्सपोर्ट करके बहुमूल्य विदेशी मुद्रा कमा सकते हैं। आज विदेशों को भी अमिताभों की जरूरत है। मगर इल्लत यह है कि एक से अधिक अमिताभ हम हासिल नहीं कर पा रहे हैं। इस राष्ट्रीय समस्या पर सरकार एक आयोग बिठा सकती है, और अनुसंधान मंत्रालय एक 'अमिताभ बच्चन मैन्यूफैक्चरिंग रिसर्च इंस्टीट्यूट' की स्थापना कर सकता है। न जाने क्यों सरकार इस ओर ध्यान नहीं दे रही है? देश के सुखद और प्रगतिशील भविष्य के लिए ज्यादा से ज्यादा अमिताभ बच्चनों की जरूरत है। है न?

मूल प्रश्न अब भी वहीं का वहीं है कि अमिताभ जो है वह अमिताभ कैसे बना! जो अमिताभ नहीं है वे अमिताभ क्यों नहीं बन पा रहे हैं? अमिताभ कुछ और क्यों नहीं बना? कोई और अमिताभ क्यों नहीं... वगैरा-वगैरा। दुर्भाग्यवश मैं उम्र की उन सरहदों से बहुत आगे निकल

आया हूं जहां आदमी अमिताभ बनता है। मगर जो हैं जो बन सकते हैं, वे एक क्रांति क्यों नहीं जगाते अमिताभ बनने की ? जिनके जीवन का परम लक्ष्य और एक मात्र कामना अमिताभत्व को प्राप्त होने की है वे क्या कर रहे हैं? यह मुकद्दर कमबख्त बड़ा बेईमान होता है। अच्छी-अच्छी अमिताभी प्रतिमाओं से बम्बई के होटल में कप-प्लेटें धुलवा देता है।

बहुत-सी खूबियां थीं मरने वाले में

मेरे एक दोस्त हैं मुरादाबाद में, आजाद साहब ! घर-गृहस्थी में गले-गले तक डूबे हैं, मगर खुद को 'आजाद' कहकर बैठे-ठाले शहीद हो लेते हैं !... चेहरे पर हमेशा मुरादाबादी कलई जैसी चमक...आवाज में गागरों की खनक !...और सब चीजों के अलावा शायर भी हैं। मुरादाबाद में रहकर शायरी न करना, दिल्ली में रहकर भाड़ झोंकने जैसा है। चुनांचे करते हैं। उनका एक शेर आज भी बनियान तले मेरे सीने में महफूज है। कहते हैं :

मौत किस्मत का नविश्ता है, कोई गम न करो,
जुल्फे बरहम को संवारो, मेरा मातम न करो,

इस शेर के बाद मेरे दिल से मौत का डर काफी परसेण्ट कम हो गया है...हालांकि अब घर में जुल्फे बरहम भी नहीं है, न ही संवारने का हौसला। अधपके बाल हैं जिन्हें वे यों ही मेरे आफिस की फाइल के लाल फीते से बांध लेती हैं।...आफिस का लाल फीताशाही उनके हिस्से में भी आई है। खैर, बात मौत की चली थी। इधर काफी अर्से से मैं महसूस कर रहा हूं कि लोगों में मरने का सलीका नहीं रह गया है ! अभी हैं, बोल-बतिया रहे हैं...और तड़ से खिसक लिए। मरने के मामले में यह धोखाधड़ी टालरेबल नहीं है। कोई किसी को रोकता नहीं। जब वक्त आए, अपनी फाइल क्लोज करो। मगर इस नेक काम में लपझप नहीं होनी चाहिए !...एक सलीका, एक कोड आव कण्डक्ट होना चाहिए। ...दम तोड़ने का। खुदा का घर कोई रेलवे का रिजर्वेशन आफिस नहीं है कि आठ बजे के बाद-खिड़की बन्द। आप जब जाओगे तभी वहां का

आफिस वर्किंग आर्डर में मिलेगा। जबरदस्त ओवरटाइम परम्परा है ऊपर वालों के वहां।...इन हालात में जल्दबाजी क्यों ? आराम से... करीने से मरना-वरना चाहिए। इस सिलसिले में मुझे वे लोग बेहद पसंद हैं जो कई-कई दिन सांस अटकाए पड़े रहते हैं...भारतीय क्रिकेट की तरह...न रन लेंगे, न आउट होंगे। बस, टुक-टुक करते हुए टाइम पास करते रहेंगे।...कई मरतबा ऐसा भी हुआ कि शुभचिन्तकों ने सारा सफर खर्च इकट्ठा कर लिया। घी, लकड़ी, कपड़ा व दीगर लवाजमात चौकस धरे हैं। सामान बासी हो रहा है, मगर मरने वाला नखरे तोड़ रहा है। चुनाव की थर्ड क्लास प्रत्याशी की तरह। जानते हैं कि कुछ ले-देकर हमें चुनाव के पहले ही बैठ जाना है। बैठ जायेंगे, मगर आखिरी लम्हे तक नखरे दिखाकर। कुछ लोग ये नखरे झेल लेते हैं कि हटाओ...अब लौटकर नहीं आयेगा। कुछ ऐसे भी देखे हैं जो आखिरी सांस तक परिवार और आजू-बाजू वालों से धन्धे और बकाया पर लप्पा-डुग्गी करते रहते हैं। थर्ड पर्सन देखे तो यही अंदाजा नहीं लगा सकता कि इनमें से मर कौन रहा है।...लास्ट हिचकी तक आंखें रोकड़ बही, बीजक और बाजार भाव पर यों गड़ाए रहते हैं जैसे ऊपर जाते ही माल का आर्डर प्लेस करना है। जानते ही नहीं कि जिन्दगी का 'जीरो आवर' होता क्या है ?...

उधर एकाध ऐसे रसिया भी भये हैं जो मौत को पूरी तरह सेलीब्रेट करना जानते हैं। मसलन, अभी हाल में किसी सज्जन को विदेश में फांसी हुई। उनकी अन्तिम इच्छा यही थी कि उनकी फांसी का पूरा कार्यक्रम रंगीन टेलीविजन पर दिखाया जाए। ऐसे ही बल्ले-बल्ले किस्म के लोग सही मानों में मरने के हकदार हैं।...एक हम लोग हैं। रोजमर्रा के टी० वी० प्रोग्राम ही जहां फांसी जैसे लगते हों वहां फांसी को टी० वी० तक लाने का हौसला किस मरदूद में होगा भला ?...कहीं ऐन मौके पर कैमरा या लाइट इल्ले-इल्ले हो गई, या कैमरा मैन चले गये चाय पीने (जैसा कि अमूमन होता है) तो मरने वाला फंदे में ही फटफटाता रह जायेगा। उनका क्या ? कैप्शन लगा देंगे, "रुकावट के लिए खेद है।"...या "प्रसारण दोषपूर्ण है...अपना सेट न छेड़ें।...वगैरा।"...बहरहाल, यह

लटकेबाजी अपने लोग को सूट नहीं करती कि मर भी जावे और फोटो भी सही न आवे।

अपने मुल्क में किसी मामूली-सी मौत के पूर्व ही टेलीग्राफ वालों की इल्लत बढ़ा दी जाती है। जीते जी मरने वाले ने जिनका मुंह भी न देखा, उन तक को तार ठोक दिए जाते हैं कि जल्द आओ...लालाजी खर्च होने को हैं। इधर लाला जी जानते हैं कि तार का शब्द-शब्द रकम गली है। सबको आ जाने दो, तब गैया की पूंछ थामेंगे। अर्थात्, मरते-मरते तक गवरमेंट पर कुछ बकाया नहीं रहने देंगे। यहां पर एक बात और कोटनीय है कि मरने के सिलसिले में रोने-धोने की सही टाइमिंग होनी चाहिए।... असली खेल की यह सूत्रधारी बहुत पहले से मुनासिब नहीं। पब्लिक का इंतजार करना चाहिए। मेरे ही एक मित्र के दादाजी मरे! अभी दादाजी मौत से काफी दूर थे कि सामूहिक रोना शुरू हो गया। उधर चादर तले दादा जी खुद भी रो रहे थे कि कमबख्त मुझे बिफोर टाइम रवाना करने पर तुले हैं।...इधर एक सहूलियत बड़े शहरों में यह भी हो गई है कि बिजली के शवदाह की तरह रोने वाले भी किराये पर मिल जाते हैं। सीजन आने पर इनकी बुकिंग पहले से करानी पड़ती है। बस, आप इन्हें मरने वाले का नाम बता दो। ऐसे-ऐसे वाक्य जोड़कर रुलाई का बुक्का फाड़ेंगे कि तोबा। अगला यही समझेगा कि ये लोग मरने वाले के पैदायश के पहले के दोस्त हैं। मुझे यह अनुष्ठान पसंद है। चंद पैसों में रोने-धोने की परम्परा विधिवत् निभ जाती है।...बाकी सिर्फ इतना है कि मरने वाले अभी किराये पर नहीं उपलब्ध हैं।...वरना दस काम और निपट जाते। लालाजी की बिल्टियां पड़ी हैं छुड़ाने को, और मौत की घड़ी आ गई। तड़ से किराये पर मरने वाले को फोन ठोका, "आ भई, तब तक तू मर जा। मैं माल छुड़ा लाऊं, वरना हजारों की डेमरेज पड़ जायेगी। वापस आकर मैं चार्ज ले लूंगा...तू अपने घर चले जाना।..." हालाते बेरोजगारी अगर बदस्तूर रहे, तो वह दिन दूर नहीं जब भरपूर किराये पर, किसी बूढ़े के लिए मरने का काम अंजाम देने लगेगा।...न नौकरी, पार्टटाइम सही।...यानी, बकौल 'इखलाक' सागरी :

जो जवां होने की हसरत में ही बूढ़े हो गये,
अब तो उन सूखे दरख्तों, को भी फलना चाहिए।

कहते हैं कि हसीना का प्यार और मौत घंटी बजाकर नहीं आते! फटाफट पैक अप हो जाता है।...मगर इस पैक अप का भी एक सलीका होता है।...मेरे ही खानदान में न जाने कितने मरे...(न मरे होते तो अब तक बारात लग गई होती।...) मगर जहां तक मुझे याद है, सलीके से।...जीते जी भले ही दफ्तर के टाइम की हड़बड़ी में एक पांव में जूता डालकर भाग खड़े हुए हों...मगर मरे पूरे तकल्लुफ के साथ...हर किसी से गुफ्तगू और सलाम हुआ व बच्चों की खैरियत पूछी गई। नानाजी मरहूम जामेट्री में माहिर थे। कूच के वक्त तक मुझे सातवीं थ्योरम समझाई। उन दिनों शिक्षा बहुत पिछड़ी हुई थी और मेहनत करके पास होने का रिवाज था।...गड्डी पहुंचाकर नम्बर हासिल करने की सहूलियत नहीं थी।...नानाजी गुजर गये। अब मेरा होनहारपन अपनी जगह था कि आज तक तरह-तरह के कोण ही न पहचान पाया।...उन्हीं दिनों एक और खानदानी बुजुर्ग आउट हुए! शायर थे।...गंगाजल पीकर शेर पढ़ा :

पसीना मौत का माथे पे आया, आईना लाओ,
हम अपनी जिन्दगी की आखिरी तस्वीर देखेंगे।

उन्हें आईना दिया गया। निज मुख दरपन में बिलोकते-बिलोकते ही वे प्रस्थान कर गये।...यह सलीका अब है कहीं?...ऐसे ही भूतपूर्वों ने मौत को नई ग्रेस बख्शी थी।...यह थोड़ा ही कि रिस्ट वाच की तरह दिल धक से रुक गया और...फिनिश। कुछ ढंग से इन्सान ऊपर उठकर जाए...तभी यह कहते अच्छा लगता है कि 'खुदा बख्शे, बहुत-सी खूबियां थीं मरने वाले में।...'

मेरा डुप्लिकेट चेहरा

लो साहब, अब अगर आपको इंडिया में मेरी ही शक्ल जैसा घटिया कोई और के० पी० सक्सेना मिले तो इसमें मेरा कोई दोष नहीं। इस देश में अब बहुत-सी चीजें एक जैसी जुड़वां नजर आने लगी हैं। मसलन, भूख-गरीबी, शिक्षा-बेरोजगारी, पुलिस-अराजकता, धर्म-खून, फिल्में-क्राइम। कहां तक गिनाऊं आप जी दी खिदमत विच? कश्मीर से कन्या कुमारी तक आपको एक जैसी भूख मिलेगी, एक जैसी गरीबी। जहां-जहां धर्म का झंडा ऊंचा हो रहा है, वहां-वहां उस पर खून के छींटे पड़ रहे हैं। हर नई फिल्म अपने साथ हिंसा और फूहड़पन के नये कीर्तिमान ला रहा है। जहां-जहां पुलिस जाती है, वहां-वहां इज्जत-आबरू और व्यवस्था सो गई है। अतः ये सब ३६ वर्ष की आजादी की जुड़वां बहनें हैं जो अब जवानी गुजारकर चिड़चिड़ी हो चली है। अखबारों के पन्नों को शायद ३६ वर्ष में विध्वंस की ऐसी खबरें नहीं मिली होंगी, जो अब मिल रही हैं।

हर सुबह पेपर देखता हूं तो लगता है जैसे यज्ञ हो रहा है। बंदूकों और छुरों की नोक पर व्यवस्था का चंदन और इंसानी खून की रोली सजाकर सत्यानास कर डालने के श्लोक पढ़े जा रहे हैं। गांधी और तिलक के उदास बुत आंखें मूंदे अपने जांनशीनों के करिश्मे देख रहे हैं!... 'तुम मुझे वोट दो, मैं तुम्हें तुम्हारा ही खून दूंगा।' आप सोच रहे होंगे कि यह व्यंग्य वाला बंदा खून ते हिंसा दीयां गल्लां लै बैठा!...ना जी! मैंने बात शुरू की थी एक शक्ल वाली चीजों से।

लो जी, अब आप एक चमत्कारी किस्सा सुनो। राजस्थान में बूंदी जिले के लाखेरी कस्बे में दो अलग-अलग परिवारों के लड़के हैं, जिनकी

शक्ल हू-ब-हू एक जैसी है। दोनों का जन्म भी अलग-अलग घरों में १५ जुलाई, १९५६ को हुआ। दोनों ने साथ-साथ अर्थशास्त्र से एम० ए० किया और दोनों को एम० ए० में नम्बर भी बराबर मिले। भारतीय गणतंत्र की परम्परानुसार दोनों ही तीन वर्ष तक बेरोजगार रहे। लानत है उस पोस्ट ग्रेजुएट पर जिसे एम० ए० करते ही नौकरी मिल जावे... खैर, दोनों को नौकरी मिली भी तो एक ही दिन...१९ जनवरी, ८३ को। अब इन दोनों की तमन्ना यही है कि इन्हें मौत भी एक ही दिन नसीब हो। ऐसी बल्ले-बल्ले किस्म की जोड़ी को मेरा प्रणाम।

अब इल्लत यही है कि दोनों में से एक कभी भी खतरे में पड़ सकता है। मान लीजिए एक ने उन्माद के किन्हीं क्षणों में किसी एक कन्या को छेड़ा (हालांकि दोनों शादीशुदा हैं) तो धोखे में जूते बेचारा दूसरा खा जाएगा। अगर एक पर पुलिस-केस कायम हुआ तो दूसरा हवालात में बंद नजर आएगा। (भारतीय पुलिस की यही एक खूबी है कि थाने में बंद करते वक्त तहकीकात में ज्यादा वक्त नहीं गंवाती। चरणलाल ने चोरी की धरमलाल बंद! छुट्टी!)

इस घटना को पढ़कर मेरा मन बिला वजह दुःखी हो पड़ा है। हो सकता है कि इंडिया में मेरी ही शक्ल का कोई और हो। तस्करी वह करे और फोकट में पकड़ा मैं जाऊं। वह चुनाव लड़ जाए और हार मेरे गले में पड़ने लग पड़ें! चुनांचे भाई जी, अगर मेरी शक्ल के कोई हजरत हों तो कृपया मेरा मनहूस फोटो देखकर मुझसे सम्पर्क स्थापित कर लें और सारी गल-बात पहले ही साफ कर लें। मैं कोई धरमिंदर या अमिताभ नही हूं कि मुझे अपना डुप्लिकेट रखने का शौक हो, और जो लड़ाई-मार-कुटाई के दृश्यों में पेट की दो रोटियों के लिए अपनी हड्डियां तुड़वा सके। भारतीय फिल्मों में एक जैसी शक्ल वाले लोगों का अन्त मैं देख चुका हूं। मैं यहां पर यह भी स्पष्ट कर दूं कि बचपन में किसी मेले में या आंधी-तूफान में मेरा कोई भाई गुम नहीं हुआ, जो बाद में मेरे मरणोपरान्त मेरी प्रापर्टी (जो कुछ है ही नहीं) पर अपना दावा ठोक देवे। मैं यह भी स्पष्ट कर दूं कि अपने इंडिया में धर्म के खोखले नाम पर चाकू खाकर अगर मेरी शक्ल का कोई आदमी 'शहीद' हो जावे तो वह मैं

हरगिज नहीं होऊंगा, क्योंकि धर्म शब्द की जो स्पेलिंग आज धर्मान्धों ने बना रखी है, वह मेरी डिक्शनरी में नहीं है।

मैं अब उस उम्र को पहुंच गया हूं जब लोग-बाग लस्सी भी फूंक-फूंक-कर पीते हैं। बल के नाम पर शरीर में सिर्फ इतनी ताकत रह गई है कि बहला-फुसलाकर रिक्वेस्ट करके भले ही एक मच्छर मार दूं जबरदस्ती नहीं मार सकता।

मैंने ये सब बातें इसलिए स्पष्ट कर दीं कि इस देश में एक गरीब हिन्दी लेखक के पास उसकी इज्जत-आबरू के अलावा और कुछ नहीं होता। यह भी अगर धोखे में जाती रही तो बचा ही क्या ? यह अलग बात है कि जिनके पास सब कुछ है, उनके पास वह आबरू, जन-जन का वह प्रेम नहीं है, जो के० पी० के पास है। यह प्रेम ही मेरी जायदाद है। मैं नहीं चाहता कि मेरी शक्ल का कोई भी डुप्लीकेट अपने काले कारनामों से मुझे चौपट कर दे। इन्सान और इन्सान की बनावट में कोई अलग मिट्टी नहीं लगती। ये कारनामे ही हैं, जो इस पवित्र मिट्टी को दागदार कर देते हैं। दागदारी अब इस कदर बढ़ चुकी है कि कोई भी के० पी०, कोई भी साधारण लेखक कभी भी दागदार हो सकता है। मैं अपनी मेहनत से अखबारों में छपना चाहता हूं। बेगुनाहों का खून बहाकर, रेलवे स्टेशन जलाकर, बैंक लूटकर, अखबारों की गंदी सुर्खियां नहीं बनना चाहता। इस जिल्लत के नाम से मौत की गुमनामी अच्छी।

नाम खुदवाने के शौकीन...

नाम का शौक इस मुल्क में जुनून की हद तक पहुंच गया है। कोई दरवाजे पर नेम प्लेट लगाता है तो कोई ब्रीफकेस, घड़ी, पेन, पर्स, साकिल, स्कूटर तक पर अपना नाम दर्ज करा लेता है ! अंगूठी के नगीनों और बेल्ट के बकल तक पर नाम का पहला अक्षर जड़ा रहता है। जैसा कि कहा भी गया है कि 'दुनिया से चले जाओ रह जायगा बस नाम...' सो नाम के नक्श कराने की चाह घर करती ही जा रही है ! कुछ हजरात और हजरातिनें कलाई पर अपना नाम गुदवा लेते हैं कि अगर कहीं गुम हो जायें तो लोग कलाई थामकर कह दें कि 'अनारकली' या 'राधा देवी' यही हैं। किसी जमाने में चीन में एक जागीरदार था जिसके हरम में ढेरों स्त्रियां थीं। हर नारी के कन्धे पर जागीरदार ने अपना नाम और नारी का नम्बर गुदवा रखा था ताकि जागीरदार की जागीर पर उसका नाम रहे और नम्बरानुसार वह उन्हें ओब्लाइज करता रहे !...औरत का दर्जा न तब गाय-बकरी से ज्यादा था, न अब है। इस संदर्भ में अपने देश की पुलिस और पुलिस के चमचों की उदारता का कायल हूं। औरत जात उपलब्ध हो जाने पर वे नाम या नम्बर की झंझट में नहीं फंसते ! सीधे-सादे सामूहिक रूप से 'ओब्लाइज' करके अपनी ड्यूटी अंजाम दे देते हैं और समाचारपत्रों के लिए एक मामूली-सी खबर बन जाती है कि फलां थाने में एक महिला की आबरू का अभिषेक हो गया।...ऐसी उदारता पुराने जागीरदारों में नहीं थी।...

नामों के संदर्भ में मैं नमन करता हूं उन संगमरमर के टुकड़ों को जिन्हें शिलान्यास के समय किन्हीं कर कमलों ने रखा। इन पत्थरों पर खुदा

उनका नाम बरसों जड़ा रहेगा,...वे स्वयं भले ही इतिहास के कूड़ेखाने के हवाले हो जायें !...आज गद्दी नशीन हैं, कल भूतपूर्व हो गए। मगर पत्थरों पर खुदा नाम भूतपूर्व नहीं होता...बल्कि इन्सानियत और आत्मा के कुछ भूतों की निशानी बनकर डटा रहता है।...शिलान्यास करने वाले का जीवन उसी समय सार्थक हो जाता है जब संगमरमर के टुकड़े पर मोटे अक्षरों में अपना नाम खुदा देख लेता है। यही परम उपलब्धि है उसकी कुर्बानियों की...(जो उसने कभी नहीं दीं !) मेरे ही शहर के एक भूत-पूर्व के नाम का पत्थर जड़ा है। उनके नाम से पहले सारे आदरणीय सम्बोधन खुदे हुए हैं, गोया कि उनका नाम साक्षात् तुलसी का पौधा हो। मेरा बेटा अक्सर मुझसे पूछता है कि ये कौन थे और इनकी कीर्तिकथा क्या थी ? मैं असमंजस में पड़ जाता हूं। यद्यपि वे आज भूतपूर्व हैं, मगर उनके कारनामों से उनकी उम्र के सभी लोग वाकिफ हैं। क्या मैं अपने बेटे से कह दूं कि यह वह हैं जिनकी हवस की आग कभी नहीं बुझी ?... पैसे के गिलाफ तले कितनी ही पंखुड़ियां मसल डाली इन्होंने ! मगर नहीं, जिसका नाम पत्थर पर खुदा हो उस पर पर्दा डाले रखना हर खास ओ आम का फर्ज बन जाता है। जिनके जीवन की सार्थकता ही पत्थरों पर नाम नक्श कराना हो, उन पत्थरों को कोई नहीं पिघला सकता !...

अखबारों में नाम बनने के लिए कुछ लोग गद्दी से इस्तीफा दे देते हैं ...देश हित में ! चार रोज बाद पुनः इस्तीफा वापस ले लेते हैं, देश हित में ! देश हित न हुआ तवायफ की चूड़ियां हो गई कि हर रात पहन लीं, हर सुबह तोड़ दीं ! वे जानते हैं कि जो लोग अपने नाम का प्रचार करना नहीं जानते, उन्हें कोई याद नहीं रखता।...मुफ्त में शहीदी हासिल करने का इससे अच्छा तरीका और कोई नहीं कि अपने नाम को हर कीमत पर हरा-भरा रखा जाए।...तम्बू तले एक घड़े पानी के साथ अनशन पर बैठना, नाम की लालसा नहीं तो और क्या है ? जो खामोशी से खिदमत करते हैं...अपने नाम को अपने ही आंचल तले ढककर रखते हैं, वे मदर टेरेसा हो जाते हैं !...उनके न चाहते हुए भी दुनिया उनके नाम पर सिर झुकाती है...उन्हें देव प्रतिमा जैसा पूजती है।...नाम जब बहुत बढ़ जाता है तब बुतों में बदल जाता है—चौराहे-चौराहे लगे हुए बुत, जो धूप में

तपते रहते हैं और वक्त की धूल-मिट्टी झेलते रहते हैं !...कभी-कभी नाम की हवस मंदिरों और मसजिदों तक पहुंच जाती है !...एक पत्थर, एक नल, एक पंखा भी लगवा देते हैं तो उस पर तड़ से लिखवा देते हैं कि फलां-फलां ने अपनी माता जी की पवित्र स्मृति में लगवाया। मां की पवित्र स्मृति सीने के अन्दर फूल जैसी सजाकर रखने की चीज होती है...सार्व-जनिक स्थानों पर पेण्ट कराने की चीज नहीं ! पर दौलत की बैसाखियों पर नाम की हवस और अधिक तेज चलने लगती है। तन अच्छे कपड़ों से ढका हो तो अन्दर की फटीचर आत्मा छुपाने में और भी आसानी रहती है ! जिसका लक्ष्य सिर्फ पेट भर रोटी ही हो वह गरीब अपना नाम, अपनी आत्मा, अपनी पहचान चुपचाप बेच देता है ! उसके पास सिर्फ एक कामन नाम शेष रह जाता है...भूख !...

कुछ नाम ऐसे भी होते हैं जिनके एक-एक अक्षर पर एक समर्पित जिन्दगी का नक्शा टंगा होता है। ऐसे नाम सदियों में एक बार पैदा होते हैं ! उन्हें खुद को पत्थरों पर खुदवाने की चाह नहीं होती !...जब वे गुजर जाते हैं तो उनकी याद में सिर्फ एक शेर बाकी रह जाता है :

यह है वीराना-ए-दिल, पांव संभल कर रखना,
अभी आबाद था इक शहर यहां, कहते हैं !...

तराजू पर तुलें मोरे ललना...

जिस जमाने में मैं ताजा-ताजा पैदा हुआ था, उन दिनों बच्चे को तराजू पर तौलने का सिस्टम नहीं शुरू हुआ था। सीधे-सीधे शिशु को नहला-धुलाकर, गोटे और मखमल वगैरह में लपेटकर पालने में रख देते थे और ढोलक-मजीरे वगैरह बजाने लगते थे। बच्चे को बच्चा समझते थे...गुड़ या आलू नहीं कि फसल का तौलना जरूरी हो। उन दिनों मशीन पर सिर्फ मुर्गी का अंडा तौला जाता था कि कितने औंस का है।...चुनान्चे मैं बिना तराजू पर चढ़े ही बड़ा हो गया।...अभी उस स्टेज पर भी नहीं पहुंचा हूं कि ढलती उम्र में लोग मुझे तराजू पर बिठाकर नोटों या सिक्कों के बदले तौलें...यह सौभाग्य सिर्फ उन्हें ही मिलता है जिनका मुकद्दर ताउम्र तराजू पर बैठे रहने लायक होता है।...ऐसे लोगों के स्थूल शरीर को तुलते देखकर मुझे यही लगता है जैसे पुराने चावलों का बोरा तौला जा रहा हो! उन्हें तभी सुख मिलता है जब तराजू पर बैठ लेते हैं!... खैर!...

धीरे-धीरे यह प्रथा चल पड़ी कि पैदा होते ही बच्चे को तौलिये में लपेटकर तराजू पर डाल दिया। बाद में तौलिये का वजन घटाकर बच्चे का वजन हासिल कर लिया। रंग-रूप और गुणों से कोई मतलब नहीं। वजन होना चाहिए लाड़ले का! पहले ऐसी एक पल्ले की मशीन सिर्फ अस्पतालों में होती थी और तौलने-नापने का मैथमेटिकल काम नर्सें करती थीं। अब जन्म से पहले ही रेडीमेड मशीन और नर्स घर पर ही बुलवा लेते हैं। बस चले तो बच्चा भी रेडीमेड ही मंगवा लें और प्रसव-पीड़ा से छुट्टी हो जाए। मेरे ही एक दोस्त के यहां हाल में ताजा हुआ बच्चा सुर्ख

कपड़े में लिपटा तराजू पर पड़ा था। सबकी नजरें तराजू की सुई पर थीं कि कितने औंस का है। मैं समझा कि दोस्तों में बांटने के लिए मिठाई वगैरह तौली जा रही है!...बाद में पता चला कि तराजू पर धरे हुए ललनाजी तुल रहे हैं! ऐसे भी लोगों को बुढ़ापे तक खुद को मशीन पर तौलने का शौक होता है कि जूते-मोजे और बनियान का वजन घटाकर बकाया शरीर कितने किलोग्राम गोश्त है?...बार-बार टिकट पर छपा हुआ अपना मुकद्दर और अपनी आदतें पढ़ते हैं। खुश होते हैं कि वे कितने विनम्र और मृदुभाषी हैं...(चाहे जबान कितनी ही कड़वा-करेला क्यों न हो)?...अपने जीवन में चाहे कभी पटना भी न देखा हो, मगर वजन-टिकट पर यह पढ़कर शरीर का क्षेत्रफल दूना हो जाता है कि उनके भाग्य में पेरिस की यात्रा लिखी है!...

बच्चे का वजन तौलने की एक मजेदार सनक पढ़ने में आई है। इंडोनेशिया में अचानक तराजुओं की खपत बढ़ गई। गरीब से गरीब घर में तड़ातड़ तराजू खरीदे जा रहे हैं। माताएं प्रतिदिन अपने लाड़लों को तराजू पर तौलती हैं। कहा जाता है कि इंडोनेशिया के लगभग १५ हजार गांवों में लगभग २० लाख महिलाएं इन्हीं तराजुओं को घरों में लगाए हुए हैं ताकि गाजर, कद्दू, प्याज वगैरह के अलावा बच्चा भी तौला जा सके कि दिन-भर में पहलवान का वजन कितने तोले तरक्की फरमा चुका है। आप वहां किसी भी घर में तशरीफ ले जाइए; हर जगह एक न एक बरखुरदार तराजू पर लेटे अपना नन्हा-सा जिस्म तुलवाते हुए नजर आएंगे।

तराजूबाजी की इस सनक पर मुझे एक लतीफा याद आ गया। एक मेम साहब क्लब जाते वक्त अपने नौकर को रुपये दे गईं कि ५ किलो शक्कर खरीदकर किचिन में रख दे। नौकर हजरत भी काफी दरिया-दिल था। सारे पैसे जुए में हार गया। वापस होने पर मेम साहब ने जवाब तलब किया कि शक्कर कहां है? नौकर ने फरमाया कि सारी शक्कर मेम साहब का पालतू कुत्ता खा गया। कुत्ता ५ किलो शक्कर खा गया? मेम साहब ने तड़ से कुत्ते को तराजू पर तौला। पूरा ५ किलो निकला! ...फौरन नौकर से जवाब तलब किया, "यह तो हुई ५ किलो शक्कर। अब यह बताओ कि कुत्ता कहां गया?..."

तराजूबाजी और बच्चों को तौलने का शौक मैंने यों भी कई तथाकथित

बड़े घरों में देखा है। यों लगता है जैसे साहबजादे का सारा भविष्य उनके वजन पर ही निर्भर है। अगर छटांक-भर भी कम रह गए तो कालांतर में कमिश्नर बनने के बजाय क्लर्क रह जाएंगे !...बड़ी शान से बच्चे को एक चड्ढी मात्र में ठूंसकर तराजू की प्लेट पर धर देते हैं। साहबजादे कुत्ते के पिल्ले की तरह कें ऽऽऽ कें ऽऽऽ चिल्लाते रहते हैं और अम्मी जी की नजर वजन की सुई पर रहती है कि विटामिन-प्रोटीन पिलाने का आखिर क्या असर पड़ रहा है ?...सुई अगर सूत-भर भी आगे सरक गई तो मम्मी जी खुशी से चहक उठती हैं कि बच्चा 'गेन' कर रहा है।...वजन गेन करने की अगर यही रफ्तार रही तो वह दिन दूर नहीं कि साल-छह महीने में बच्चा अमजद खां जैसा गब्बर सिंह नजर आने लगेगा !...अगर कहीं बच्चा तोला-भर भी वजन लूज कर गया तो डाक्टर को इमरजेंसी टेलीफोन...। "हरी अप, डाक्टर ! मुन्ना वजन लूज कर रहा है। ओह गॉड। अगर यों ही वजन लूज करता रहा तो एक दिन मुन्ना डाकखाने के लिफाफे में रखने-भर का रह जाएगा...!" मेरा दुर्भाग्य है कि बचपन में एक बार भी किसी कमबख्त ने मुझे तराजू पर नहीं चढ़ाया। किसीने यह फिक्र नहीं की कि देश का भावी व्यंग्य लेखक 'लूज' कर रहा है या 'गेन' कर रहा है !...शायद यही कारण है कि मैं आज तक हर क्षेत्र में लूज ही लूज करता रहा...गेन कुछ भी न किया। एक बार भी नंगे बदन मुझे तराजू की गोद में डाल दिया गया होता तो आज मैं फल-फूल रहा होता, और पता कर लेता कि प्रति किलोग्राम मेरी क्या कीमत है...?

कुल मिलाकर मुझे खुशी है कि संपन्न परिवारों के जो नन्हे-मुन्ने आज चिकने तराजुओं पर तुल रहे हैं, वे कल पूरे देश को अपनी अंगुलियों पर तोलकर रख देंगे। देश का भविष्य उन्हींके हाथों में है। झोंपड़ी और खस्ताहाल मकानों के जिन अबोधों को तन ढांकने को टुकड़ा नसीब नहीं, वे भला तराजू तक क्या पहुंचेंगे ? उनके नन्हे शरीर के विटामिनों और प्रोटीनों को नापने की फुर्सत किसे है !...या यों कहिए कि वे तराजू ही अभी ईजाद नहीं हुए जिनपर हर बच्चा बिना भेदभाव के तोला जा सके...! मेरे मन में अब भी एक बार तराजू पर बैठने की लालसा है ! देखूं कब पूरी होती है !

बाजूबंद खुल-खुल जाए

मित्रो ! आप भी जानते है, मैं भी जानता हूं कि जब क्रिकेट का मौसम आता है तो सारे मौसम पीछे हट जाते हैं...हाथ जोड़कर...'त्वमेव माता च पिता...' कहकर। एक हारी जाती हुई मैच की कमेंट्री मिल जाए देश को, पेट भी भर जाता है, तन भी ढक जाता है। चूंकि, टेस्ट मैच और वन-डे वगैरा धुआंधार चल रहे हैं, सो अब समय आ गया है कि मैं पर्दा हटा दूं, और भारतीय क्रिकेट में अपने योगदान से आपको परिचित करा दूं ! आप कृपया चौंकिए नहीं ! यह मत सोचिए कि भला ऐसे चौखट वाले व्यक्ति ने क्रिकेट खेला होगा ? मेरी उम्र पर पहुंचकर अधिकांश खिलाड़ियों का चेहरा ऐसा ही नजर आने लगता है। आइए, बावन साल पीछे चलें। अंग्रेजी में—ओवर टू नाइण्टीन थर्टी टू !

अब आप जरा ध्यान से देखें कि भारतीय क्रिकेट, जो इस समय अपने भरपूर बुढ़ापे से गुजर रहा है, उसमें आपके इस गुलाम का योगदान क्या था। जड़ तक पहुंचने के लिए इतिहास ढूंढ़ना पड़ता है। आप मेरा और क्रिकेट का इतिहास साथ-साथ देखिए। भारत ने पहला टेस्ट मैच लंदन के लार्ड्स में 28 जून, सन् 1932 के दिन खेला। इससे ठीक 24 घंटे पहले 27 जून को मेरा जन्म हुआ। इस शुभ अवसर पर मैं न पैदा होता तो भारतीय टीम रुकी रहती ना। मैंने भी कहा कि जाओ, हारकर आओ ! हार का सदमा झेलने के लिए मैं तो पैदा हो ही चुका हूं। वे चले गए...हार गए...मैं पालने में पड़ा-पड़ा रोता रहा। जो अज्ञानी थे वे यह समझे कि बच्चा रो रहा है, जो ज्ञानीजन थे वे समझ गए कि भारत की पहली टेस्ट मैच की हार का गम समा गया है। इस पहली टेस्ट मैच में

भारत के कप्तान थे सी० के० नायडू और इंगलैंड के थे डी० आर० जार्डिन। दोनों तरफ ग्यारह-ग्यारह खिलाड़ी थे। रोने वाला अकेला मैं था। वजीर-अली, नाऊमल, एस०एम० एच० कोला, नजीर अली, वालिया, लाल सिंह, जहांगीर, निसार वगैरा भारत की ओर से खेल रहे थे। उन दिनों न कमेंट्री की सुविधा थी न टी० वी० की। न मैं सुन सकता था, न देख सकता था। बस, रो सकता था कि भारतीय टीम हार रही है। जो नाम मैंने गिनाए वे आज आपको अजनबी लग रहे होंगे। मैं भी खेलता तो मेरा नाम भी आज आपको अजनबी लगता। मुझे ये नाम सदा याद रहेंगे। धुआंधार खिलाड़ी थे। टेस्ट मैचों में हारने की गौरवशाली परम्परा का श्रीगणेश इन्हीं पतलूनों से हुआ था। फिर धीरे-धीरे धुआंधार नाम जुड़ते चले गए...भारतीय टीम जीतती चली गई और मैं बड़ा होता चला गया। जब मेरा कद बल्ले के साइज का हो गया तो मैंने अपने परिवार के कंट्रोल बोर्ड के सामने इच्छा व्यक्त की कि मैं क्रिकेट को प्राप्त होना चाहता हूं। बोर्ड के चेयरमैन यानी पिताजी ने यह कहकर इन्कार कर दिया कि तुम राजे-महाराजे के लड़के नहीं हो जो क्रिकेट खेलो। उन दिनों भारतीय क्रिकेट पूरी तरह रजवाड़ों की गिरफ्त में था। पिताजी का दूसरा तर्क यह भी था कि भारतीय टीम निरन्तर जीत ही रही है, मैं जाकर क्या करूंगा? फिर मेरी जवानी आने के साथ-साथ ही रेडियो पर कमेंट्री आनी शुरू हो गई। हर बाल पर मुझे ऐसा महसूस होता था कि अब मेरा टीम में शामिल होना जरूरी हो गया है। मुहल्ला-स्तर पर मैं गली में अच्छी फील्डिंग करने लगा था और कई गेंदें बाउंड्री से पार कर चुका था। जब-जब भारतीय टीम हारती थी, मेरा मन रोता था कि मूढ़...ये सब तेरे कारण हुआ है।···तू होता तो कुछ कम रनों से हारती ना। कई बार मैंने मांकड और हजारे को खत लिखे कि आप कहो तो मैं आ जाऊं। उनका कोई जवाब नहीं आया। मैं समझ गया कि सोच रहे होंगे कि हारने को हम कम हैं क्या, जो तुम भी आकर पतलून मैली करोगे? मेरी ताजा-ताजा प्राप्त पत्नी ने छत की बालकनी से मुझे क्रिकेट खेलते देखा था। उसकी आंखों की चमक देखकर मैं समझ गया, वह चाहती है कि और खिलाड़ियों की पत्नियों की तरह वह भी पैवेलियन में बैठकर स्वेटर बुने। हमारी टीम

हारती रहे और वह स्वेटर बुनती रहे। हम कैच छोड़ते रहे, वह स्वैटर बुनती रहे! हमारी गेंदें विदेशियों के हाथों पिटती रहें, वह स्वेटर बुनती रहे। हमें फालोआन कराया जाए, वह स्वैटर बुनती रहे। हम हार जाए और वह...खैर! उसका क्या दोष? वह जानती है कि स्वेटर उसे ही बुनना है...हारना हमें ही है। न वह हार सकती है, न मैं स्वैटर बुन सकता हूं। एक परम्परा जो है कि पत्नियां बहुत कम हारती हैं, पति बहुत कम स्वेटर बुन पाते हैं।

आप जरा ध्यान से मुझे और भारतीय क्रिकेट को देखें। दोनों की समस्याएं समान रही हैं। भारतीय क्रिकेट पहले राजे-महाराजाओं की गिरफ्त में था, फिर पूंजीपतियों और उद्योगपतियों की गिरफ्त में आया, अब राजनीति की गिरफ्त में है। मैं पहले मां-बाप की गिरफ्त में आया, फिर पत्नी की गिरफ्त में, अब उम्र की गिरफ्त में हूं। दोनों ही खुलकर नहीं पनप पाए...न मैं, न भारतीय क्रिकेट। दरख्तों से जब तक खिजां के पत्ते नहीं झड़ जाते, नई बहार नहीं आती। आज लोग कहते हैं कि भारतीय क्रिकेट को यंग ब्लड, जवान खून की जरूरत है। मैं जवान था तब भी यह कहा जाता था कि नये खून की जरूरत है। पर मेरी जरूरत किसीको महसूस नहीं हुई। वही कुछेक पुराने चेहरे जो अपने हिस्से की धूप सेंक चुके हैं, फिर भी धूप का रुख रोके खड़े हैं। कई-कई बार मन में एक विज्ञापन टाइप आवाज उठती है कि, भला इसका जीरो मेरे जीरो से अच्छा क्यों? यह जीरो पर आउट होकर लौट जाता है, क्या मैं इसी शान से जीरो पर आऊट होकर नहीं लौट सकता? फिर यही क्यों? मैं क्यों नहीं? कोई भी ऐरा-गैरा नत्थू-खैरा क्यों नहीं? कुछ लोग एक गलत जगह अल्पना बना लेते हैं, और जब कोई इस अल्पना पर पांव रखकर गुजर जाता है तो मन टीस जाता है कि सारा जुड़ाव टूट गया। न जाने किन भाग्यशाली क्षणों में हमने विश्व कप जीता। यह पहला मौका था जब भारतीय क्रिकेट में मेरा कोई योगदान नहीं था। मैं कमेंट्री भी नहीं सुन पाया। शायद इसीलिए जीत हो गई। मुझे खुशी हुई। पर एक डर सालता रहा कि आगे चलकर कहीं कुछ नेक-बद न हो जाए। वही हुआ। किस बैरन की लागी नजरिया, किस सौतन की लागी हाय, बाजूबंद खुल-

खुल जाए। खुल गया बाजूबंद। जिन हाथों से कप निकला था, उन्हीं हाथों को पारी की हार सौंप दी। वन-डे भी बख्श दिया। जाओ यार, तुम जीतो, हम तो हारते ही रहते हैं। तुम अपनी सेहत क्यों खराब करो?

अब आप एक बार पुनः मेरे चेहरे पर नजर फेंको। रह गया कहीं मैं खेलने लायक? यह वह उम्र होती है जब पुराने खिलाड़ी टीम-मैनेजरी कर सकते हैं। मैं भी कर सकता हूं। पूरा यकीन दिलाकर मैनेजरी कर सकता हूं कि जिस गौरव के साथ आपकी मैनेजरी में टीम हार सकती है, मेरी मैनेजरी में भी हार सकती है। जीत जाए तो श्रेय टीम को, दोष मेरा। मगर मैं जानता हूं कि जिन लोगों ने हार के अनुपम क्षणों में मुझे खेलने नहीं बुलाया, वे भला अब मैनेजरी करने को काहे बुलाने लगे? मैंने भी मैनेजरी का मोह छोड़ दिया। बहरहाल, अब मैं भी अधेड़ हो चला हूं, और भारतीय क्रिकेट भी। दोनों को जवान खून की जरूरत है। मुझे तो मिलने से रहा, क्रिकेट को मिल सकता है। मगर कुछ घिसे-पिटे खिलाड़ियों के साथ वही कहावत है कि न कंबल बाबा को छोड़ना चाहे, न बाबा कंबल को।

हम एक बार हारते हैं तो अगले खेल से पहले बयान देते हैं कि इस बार देखना हार का बदला चुका लेंगे! मगर होता क्या है? वही रिकार्ड फिर बजता—किस बैरन की लागी नजरिया, किस सौतन की लागी हाय...बाजूबंद खुल-खुल जाए।

जहर से पेट भरने वाले लोग

'जहर' एक ऐसा शब्द है कि जिसका स्मरण होते ही उम्र की कड़वाहट और मौत तथा जिन्दगी के बीच की दूरी का बोध होने लगता है। जहर भी दो तरह का होता है। एक वह जो सुकरात और मीरा ने पिया था। ...दूसरा वह जिसे आम हिन्दुस्तानी पिछले अनेक वर्षों से पीता चला आ रहा है...और बाकायदा जिन्दा है। एक जहर वह भी होता है जिससे कुछ लोग अपना और परिवार का पेट भरते हैं। मसलन...मद्रास से ६० किलोमीटर दूर एक आदिम जाति रहती है—इस्ला! इन्हें द्रविड़ों का भी पूर्वज माना जाता है। आन्ध्र, कर्नाटक और तमिलनाडु का जंगली इलाका ही इनका सदियों पुराना घर है। ये लोग जहर बेचकर जीवन-यापन करते हैं। इस्लाओं के छोटे-छोटे बच्चे तक अपनी खाने-खेलने की कच्ची उम्र में सांप पकड़ने का खतरनाक धन्धा करते हैं...पापी पेट के लिए। ...अब कानून पेट के आड़े आ गया है। शासन ने सांपों की खालें बेचने पर प्रतिबन्ध लगा दिया है। मगर पेट भी भूख मिटाने के नये-नये रास्ते खोल देता है। अब इस्ला लोग सांप की खाल नहीं, उसका जहर बेचते हैं। करैत, कोबरा और वाइपर जैसे जानलेवा सांपों का जहर जिन्दा हालत में निकालते हैं और उसे भारत ही नहीं, विदेशों के हाथों तक बेचते हैं। यह भारतीय सांपों का जहर है...कृपया खरीद लीजिए।...जापानी डाक्टर योशियाई के अनुसार, इनके बेचे हुए जहर ने दक्षिण जापान के द्वीपों में लगभग ४५ हजार लोगों की जान बचाई है, क्योंकि जहर से ही जहर का इलाज होता है।...जहर से अपना और बच्चों का पेट भरने वाले इस्लाओं को मेरा प्रणाम। सिर्फ जिन्दा रहने की ललक में इन्सान

को न जाने कितने जहन्नुमों से गुजरना पड़ता है...कितनी ही मौतों को गले लगाना पड़ता है। हम उस देश के वासी हैं जहां भूख लगने पर रोटी नहीं...बल्कि रोटी मिल जाने पर ही भूख लगती है। कि मैं गलत कह रहा हूं आपसे ?...प्रश्न सिर्फ इस्लाओं के पेट की रोटी और जहर का नहीं है। देश के मानचित्र पर नजर डालकर देखो आप ! सत्तर करोड़ पेट, छत्तीस बरसों से किसी न किसी तरह विष-पान करके ही जिन्दा हैं। जो जहर गले से नीचे उतरता है वह इतना कड़वा नहीं होता जितना कि वह जहर जो आत्मा को छलनी कर देता है...विवेक जला डालता है... आदमीयत छीन लेता है, और इन्सान मात्र पेट भरने की मशीन होकर रह जाता है ! झुरियों की जंजीरों में जकड़े हुए बूढ़े चेहरों से पूछिए आप कि कितना-कितना जहर पीकर भी अभी उम्र के आखिरी कागजात के इन्तजार में बैठे है। जवानी की दहलीज पार करके बालों में चांदी के तार आने की प्रतीक्षा में बैठी किसी क्वांरी लड़की से पूछिए आप कि दहेज के अभाव में जलते अरमानों का कितना-कितना जहर पिया है उसने ?... कुछ जहर ऐसे भी होते हैं जिनका द्रव्य...जिनका प्याला नजर नहीं आता, मगर जहर सीधा रूह में उतर जाता है।...आपने जहर के जो फार्मूले केमिस्ट्री की किताबों में पढ़े होंगे, उनसे हिन्दुस्तान के जहर का कोई ताल्लुक नहीं।...पढ़-लिखकर, ऊंची डिग्री प्राप्त करके चार रोटियों की तलाश में भटकने वाला हर नौजवान भगवान् शंकर जैसा है। नाउम्मीदी का जाने कितना जहर हर इण्टरव्यू उसकी हलक से नीचे उतार देता है। उसके पास किसी मंत्री···किसी 'ऊंचे' के टेलीफोन या चिट्ठी का अमृत नहीं होता जो उसे भूख के जहर से छुटकारा दिला दे।...विश्वासघात और रिश्वतखोरी का जहर हर बार सांप के नन्हे बच्चे की तरह उसके खून में उतर जाता है...और एक आजाद मुल्क में पैदा होने का गम उसे चीर डालता है। बड़े-बड़े नेताओं के बड़े-बड़े आदर्शवादी भाषण उसके खोखले बे-रोजगार पेट में जहर जैसे उतरते चले जाते हैं। वह सुनता है कि देश का बोझ नौजवान कंधों पर है। वह अपने कंधे टटोलता है। उसके पास कंधे हैं कहां ?...बेईमानी और भाई-भतीजावाद की लाशें ढोते-ढोते उसके कंधे घिस चुके हैं। जवानी के नाम पर सिर्फ पेट और

थकी हुई टांगें बाकी हैं। वह साफ देख रहा है कि सिर्फ गिने-चुने परिवारों के पास ही नौजवान कंधे हैं जिन पर देश का भविष्य ढोया जाना है।... वह जहर पीकर चुपचाप अगले दिन के इन्तजार मे सो जाता है। आप मुझसे पूछ रहे थे न कि इस्ला जाति के अलावा और कौन-कौन लोग जहर पीकर जिन्दा हैं ? वही बता रहा हूं।···रोटी की तलाश में दफ्तर-फर्मों में घिसटती हुई जवान लड़कियों के आफिस से लौटते पीले चेहरे देखे हैं आपने ? जाने क्या खोकर रोटी हासिल की है इन्होंने !···मां ने उन्हें तीन वर्ष दूध पिलाया था···अब उन्हें तीस वर्ष तक कंवारे रहकर मां-बाप को रोटी खिलानी है। सपनों को बेचकर रोटी-दाल खरीदने का जहर इसे ही कहते हैं न ?...कोई अनपढ़ निकम्मा इन्सान राजनीति की बैसाखियों से उचककर मोटे-नर्म गद्दों वाली एक कार में सवार होकर सरं से निकल जाता है। अपने पीछे हवा में एक जहर छोड़ जाता है— पढ़े-लिखे, होनहार मगर बेकार नौजवानों के लिए। यूनिवर्सिटियां हर साल कितनी ही डिग्रियां उगल देती हैं जो अन्ततः जहर साबित होती हैं। इस्ला जाति के बच्चे जिन्दा सांप पकड़ते हैं। एक खरा सौदा है। जिन्दा बच गए तो पेट का इन्तजाम हो गया। डस लिया सांप ने तो एक झटके में छुटकारा। एड़ियां रगड़नी नहीं पड़तीं। पढ़ा-लिखा नौजवान सर्प दंश झेलता जाता है और तड़प-तड़पकर जिन्दा रहता है। अब बोलिये कि कौन अच्छा ? आदिम नंग-धड़ंग इस्ला बच्चे या डिग्रियां पहने हुए शिक्षित युवक ?...बादलों के गीत लिख-लिखकर खुद प्यासा मरना इसे ही कहते हैं। रक्त के समुद्र में अनगिनत सपनों की लाशें तैरती हैं···जहर की मारी हुई। फिर भी जिन्दा रहना शायद मनुष्य की अन्तिम मजबूरी है।····'अदम' की पंक्ति की तरह :

बांस के झुरमुट में कब तक चुप रहें बनपाखियां ?
भुखमरी की धूप मेरे गांव की मेहमान है।...

बाबा...बाबा...कार दो

आप जानो कि फागुन की मस्ती छावे है तो एक से एक निगोड़े किस्म के ख्याल दिल में आवे है। अब इस साल फागुन लगते ही मन में एक झुन-झुनी पैदा हुई है कि पास में एक कार हो...। न बड़े साइज की इम्पाला सही, एक छुटकल्ली-सी मारुति ही होवे। आरजू इतनी है कि घर के दर-वज्जे पर पेट्रोल का धुआं उड़े। इधर अपन कार में सवार हों, उधर फागुनी म्यूजिक बज रहा होवे कि 'तू मैंके मत जईयो मत जइयो मेरी जान...।' अब भला घर की नई कार छोड़कर चार बच्चों की महतारी मैंके जावेगी ? राम भजिये !...आजादी के इन थोड़े-से ३६ वर्षों में ही कितने ही बेकार से नितम्बों तले कार आ गयी।...जिन्हें बैलगाड़ी की स्पेलिंग सही नहीं मालूम थी वे शोफर का सलाम लेने लगे। चमरौधा जो था वह जा बैठा, डनलपिल्लो पर।...उनके हिस्से की आजादी उन्हें रास आयी। अपने हिन्दी साहित्य में ही कितने ही साल में एक रचना लिखने वाले एम्बेसडर नशीन हुए। हमारे जैसे प्रतिदिन एक रचना लिखने वाले, धुआं देखते ही रह गये।...शुरू से अन्त तक हारने वाली भारतीय क्रिकेट टीम के गावस्कर जी भी इनाम में एक कार पाते भये। रह गये के० पी० सक्सेना। न चमरौधों में···न गावस्करों में।···कुछ ऐसे भी हैं जो यह नहीं पहचान पाते कि कार का मुंह किधर है...पर दरवाजे पर बंधी हुई है।

अब आप एक नया करिश्मा देखो। आपने कभी भगवान् यानी परमेश्वर...उर्फ अल्ला मियां को कार चलाते देखा है ?...अब चला रहे हैं। इस बार राम जाने कि होली में राम जी किधर कार लेकर निकल

जायें ?...भगवान् के हाथ में स्टीयरिंग पहली बार आया है। वह हुआ यों कि १४ दिसम्बर को संजय गांधी के जन्म दिन पर प्रधानमन्त्री ने मारुति कार का उद्घाटन किया। यह कार जापानी फर्म सुजुकी ने बनायी है और खून लगाकर शहीदों में नाम लिखाने की परम्परा में सिर्फ पहिये मारुति वालों ने लगाये हैं। पहली कार पहले खरीदार को दी गयी...कोई इन्सान नहीं, बल्कि प्रसिद्ध तिरुपति मंदिर के भगवान् को।···हे प्रभु, रक्षा करियो। अब न कभी विपक्ष सत्ता में आये, न ही मारुति कार पर संकट आये, पहली कार का 'भोग' इसीलिए आपको लगाया है।...भगवान् भी खुश, सत्ता भी खुश, कार बनाने वाले भी खुश। रह गये के० पी० सक्सेना ताकते भये।...यह न सोचा किसी ने कि इस व्यंग्यकार ने हर लहर में सत्ता के खिलाफ लिखा है। लाओ, एक कार देकर इस निगोड़े का मुंह भी बन्द कर दें। पुरस्कार और तोहफे बांटने वाले भी भली भांति जानते हैं कि इस देश में लेखक का मुंह बन्द करना कितना आसान है। कितने ही चिंघाड़ने वालों के मुंह चुटकी-चुटकी पुरस्कार डालकर बन्द कर दिये गये और अब वे 'चारों धाम हाई कमांड' की माला जप रहे हैं।...अपने हाथों किसी को एक कार दे देना, सत्ता के लिए वैसा ही है जैसे कि मैं-आप किसी को आलू या प्याज उठाकर दे दें।...मगर जिसे मिलती है वह हमेशा के लिए जमीन से थोड़ा ऊपर उठ जाता है।...है न ?...

जैसे-जैसे गुलाल के बादल ऊपर उठ रहे हैं, अपनी भांग भी ऊपर जा रही है और कार की लालसा बढ़ती जा रही है...चमचमाती देह...लपलपाता बोनेट...जैसे किसी विदेशी के सामने भारत की सम्पन्नता की तस्वीर रखी हुई हो।...अन्दर चमकीले गद्दे।...स्टीरियो पर बकता हुआ गीत, 'जब हम जवां होंगे—जाने कहां होंगे।' अर्थात् ३६ वर्ष की जवानी का यह हाल है...आजादी का बुढ़ापा जाने देश को कहां ले जायेगा ?...इस कार का प्लास्टिक कोटेड स्टीयरिंग जाने किधर-किधर घूमेगा ? इसकी डिकी में अभी न जाने कौन-कौन-से इरादे ...कौन-कौन-से सम्मेलन कैद हैं ?...इसका म्यूजिकल हार्न बजने के बावजूद जाने कितने बेगुनाहों को कुचलेगा ?...इसके एक्जास्ट से छूटता हुआ धुआं जाने कितने 'धार्मिक' दंगों को जन्म देगा ? धत्ऽऽ ! भांग में यही एक ऐब है। बहकाकर आदमी को कहां से कहां ले जाती है।...

मगर आदमी भी क्या करे ? जो लोग बहुत-से दिन अस्पताल, जेल या अभावों के गर्त में गुजार कर आते हैं, उनकी छाया हमेशा उनके चेहरों पर मंडराती रहती है।...जूता पहनने वाला ही जानता है कि कौन सी कील कहां पर चुभ रही है, पांव में ?...

इस होली अपना मन एक कार के लिए बौराया है । बाबा...बाबा कार दो।...चाहे बद में धर्म, ईमान, आत्मा, विवेक, कलम...सब कुछ ले लो।'''जहां आदमी ब्रह्मचर्य और योगासन त्यागकर बन्दूक बना सकता है, वहां एक कार के लिए क्या मैं इतना त्याग भी नहीं कर सकता ? ...मेरी कमजोरी है कि मैं भूखा नहीं रह सकता (वह भी फागुन में ?''') वरना एक कार की अपनी इस डिमांड के लिए राजनारायणजी की अनशन शैली अपना लेता।...फिर भी इस उम्मीद पर एक अदद कार की आस लगाये बैठा हूं कि यह देश अभी कदरदानों से पूरी तरह खाली नहीं हुआ है।...शुभं करोति कल्याणम्...होली की मंगल कामनाएं।...

जिन्दगी की सलाइयों पर यादों के बार्डर

मेरे बारे में आज इक्यावन साल की उम्र में भी जो अफवाहें उड़ रही हैं, वे यों ही कोई फोकट में नहीं हैं। उम्र के दोनों पल्लों और बार्डर में त्याग का एक इतिहास बुना पड़ा है। विवाह की वीरगति को प्राप्त हुए मुझे तीसेक साल हो गए—सिर पर बालों के नाम पर सिर्फ पतझड़ के सफेद हाशिए बचे हैं, जिस्म के सारे फंदे ढीले हो चुके हैं, पर आज भी मेरे राह चलने वालियां एक उड़ती-सी नजर डाल लेती हैं ! काहे ? चेहरे का सलोनापन न मेरे पास भूतपूर्व जवानी में था, न अब है। सिर्फ उन यादगार स्वेटरों की बदौलत जो या तो इतने छोटे हो चुके हैं कि लोग समझते है कि नाती का पहने हैं या इतने ढीले हो चुके हैं कि मेरे जैसा एकाध के० पी० और इनमें कम्फरटेबली अकामोडेट हो सकता है। इन स्वेटरों और इनकी बुनाइयों का एक इतिहास है जो इत्र के दाग जैसा जाड़ों-भर मेरे जिस्म की दीवार पर महफूज रहता है। इनमें से कुछेक का रंग तो इतना उतर चुका है कि सिर्फ इस जांच पर एक आयोग बिठाया जा सकता है कि बार्डर का रंग स्लेटी था या काफी कलर ? वह अंगुलियां न रहीं, जिन्होंने ये फंदे डाले होंगे, मगर फंदे और उनका सीधा-उल्टापन कोलम्बस की याद जैसा बरकरार है। अब मैं आपको अपनी इस स्वेटरीय धरोहर से परिचित करा रहा हूं।

घर में पड़े सलाइयों के अवशेष और यत्र-तत्र-सर्वत्र पोटलियों में ठुंसी हुई पुरानी ऊन की लच्छियां बताती हैं कि मेरे शरीर पर पहला स्वेटर सन् तैतालिस के आसपास पड़ा था, जब मैं मात्र दसेक वर्ष का था। यह वह उम्र होती है, जब इन्सान फंदे नहीं समझ सकता। सिर्फ स्वेटर में

फंसा दिया जाता है। मेरे बचपन का श्री सत्यानास करने वाला यह पहला स्वेटर रिश्ते की किन्हीं बुआजी ने बुना था। यह भी कहा जाता है कि इस स्वेटर के निर्माण में मुहल्ले-भर की बची हुई ऊन के टुकड़े खपा दिए गए थे और धर्म-निरपेक्षता तथा भाईचारे का यह बुना हुआ नमूना हमारे गले में फंसा दिया गया था। कहा जाता है कि यह स्वेटर इतना सुन्दर था कि हमारी अपनी मौलिक सुन्दरता को खा गया। स्कूल से नाम कटने की नौबत आ गई। काहे से कि क्लास में पहुंच ही नहीं पाते थे। राह चलते मुहल्ले की स्वेटर-साधक और बुनाई-बावली कन्याएं खींच-खींचकर हमारे स्वेटर की बुनाई देखतीं और एक आह भरकर रह जातीं (याद रहे कि हम सिर्फ दस वर्ष के थे...कोई भ्रम न पालें) कालान्तर में पता लगा कि स्वर्गीय बुआजी ने इस स्वेटर के बार्डर डिजाइन का आइडिया आगरा में ताज के अन्दर बनी शाहजहां की कब्र के बार्डर-डिजाइन से लिया था। बुआजी की कला फिरदौसी और शीराजी से भी दो सलाइयां आगे थी। मुहल्ले में हमें 'स्वेटर वाले लड़के' के नाम से जाना जाने लगा। इस स्वेटर के चलते किसीकी नजर हमारे चेहरे पर नहीं पड़ी। काहे से कि नजरें बार्डर से ऊपर उठती ही नहीं थीं।

धीरे-धीरे हम बड़े हुए। मगर वही मसल कि नागफनी की पहचान उसके असंख्य कांटों से नहीं, बल्कि कुछेक सुर्ख फूलों से होती है। कालेज में भी हमारे स्वेटरों ने हमारा अपना व्यक्तिगत भविष्य उजाड़ दिया। न ही उन दिनों पत्रिकाओं के बुनाई विशेषांक निकलते थे, न ही अम्माजी को अपने क्रोशिया के काम से इतनी फुरसत थी कि स्वेटर बुनें। मगर कम्पलीमेंटरी किस्म की कुछ रिश्तेदार महिलाएं हमारा भविष्य उजाड़ने पर तुल गई थीं। दुनिया-भर के फल-फूलों और परिन्दों के डिजाइन डाल-डालकर वे-वे स्वेटर बुने हमारे तईं कि हम चलता-फिरता मुगल गार्डन हो गए। गर्मी और बरसात-भर चैन से रहते थे, मगर बैरन सर्दियां शुरू होते ही हाथों-हाथ तथा सलाइयों-सलाइयों उछाले जाने लगते थे। उन दिनों देश पिछड़ा हुआ था—डिस्को संस्कृति का जन्म नहीं हुआ था और सह-पाठिनी कन्याओं से बातचीत हौवा मानी जाती थी। फिर भी स्वेटरों के चलते हम लेक्चररों की निगाहों तक का कांटा बन गए। लाख कोट और

मफलर तले स्वेटर छुपाएं, मगर एक न एक कोकिल कण्ठी फरमायश बनी ही रहती थी कि 'प्लीज के० पी० भाई, आज एक दिन के लिए स्वेटर दे दीजिये ताऊजी की बंडी में यह डिजाइन डालनी है।' मुख्तसरन, जाड़ों-भर हमारे स्वेटर हमसे जुदा रहते और हम उन पर यों हसरत-भरी नजर डालते जैसे कोई बाप जीते जी अपने ही बच्चों को अनाथाश्रम में देख रहा हो। अब नये फंदे पड़े।

अम्मा ने महसूस किया कि हमारे स्वेटरों की डिजाइनें पुरानी हो चुकी हैं और हमें छेदने के लिए परमानेण्ट किस्म की नई सलाइयों की जरूरत है। चुनान्चे हमारे हाथ पीले और भविष्य काला कर दिया गया। फोरप्लाई किस्म की पक्के रंग की गारण्टी वाली एक प्योर वूल कन्या चुनी गई। ये मोहतरमा इतनी समझदार निकलीं कि अपनी डोली बाद में लाईं, पर गठरी-भर ऊन के गोले, सलाइयां, डिजाइन-बुक्स और कन्धे, पीठ, कमर के नाप की बुनी हुई पट्टियां पहले ही भिजवा दीं कि खुदा न खास्ता हमें सर्दी न लग जाए। अनुराग के किन्हीं विशेष क्षणों में हमारी इच्छा होती थी कि हमारे कन्धे पर सिर रखकर वे कविवर पंत की या 'बाबुल' में शकील बदायुनी की पंक्तियां गुनगुनाएं। मगर नहीं, वे उन्हीं क्षणों में अधबुने स्वेटर का गला हमारे गले में फंसाकर गर्दन सीधी रखने और सीना फुलाने का आदेश देती रहतीं। उम्र के सारे अरमान ही जैसे गलत बुन गए पल्ले की तरह बेरहमी से उधेड़कर, घुटनों में फंसाकर, गोला कर दिए गए। फिर धीरे-धीरे साहबजादों का श्रीआगमन शुरू हुआ। हमें उधेड़ आई मीन, हमारे स्वेटरों को उधेड़-उधेड़कर इन चिलगोजों की स्वेटरियां, झिगोलियां और जाने क्या-क्या बुनी जाने लगीं। किस्सा कोताह, अब बेटे हमसे बड़े नम्बर का जूता पहनने लगे हैं। उनकी अम्मी के बालों में चांदी के तारों की डिजाइन बन चुकी है और जिन्दगी बिना जिप की एक ऐसी जैकट बन गई है कि हर तरफ से पहनने पर एक जैसी नजर आती है।

स्वेटर की एक राजनीति होती है। राजनीति का एक स्वेटर होता है। पुलओवर गर्दन की ओर से डालकर नीचे खींचते हैं, राजनीति नीचे से उठकर गर्दन तक पहुंचती है। सब ध्यान रखना पड़ता है कि मौका

पड़ते ही उधेड़कर भाई-भतीजे के गले में फिट किया जा सके। कभी-कभी फंदे घटाने-बढ़ाने के चक्कर में पूरा बार्डर ही सलाइयों से गिर जाता है और नये फंदे घटाने पड़ जाते हैं। नई ऊन को चार घण्टे पानी में भिगोकर सुखा लेने से सिकुड़ने का अंदेशा निकल जाता है। स्वेटर जब सूख चुके तो उसे तुरन्त धूप से हटा लेना चाहिए। मैं सूख चुका हूं। पत्नी अब मुझे 'धूप' नहीं लगने देती गली-मुहल्ले की। एक और हिदायत पत्नी अक्सर देती है मुझे—स्वेटर में पुरानी ऊन शामिल करनी हो तो उसे अच्छी तरह धोकर लच्छी को पूरी रात पानी में पड़ा रहने दें, फिर सुखा लें, तब मिलाएं। मेरी पुरानी परिचिताएं कभी-कभार मिलने आती हैं तो मुझसे मिलवाने के पूर्व वह उन्हें अच्छी तरह धोकर सुखा लेती हैं कि कहीं अपना रंग न छोड़ जाएं। एक और स्वेटरीय सत्य यह है कि अलग-अलग कम्पनियों की अलग-अलग सलाइयों की बची-खुची रंगीन ऊन से भी बेहद आकर्षक स्वेटर बनता है, पर काम चलाऊ। इस सत्य को मैं अपने भाग्यवान पड़ोसी मिस्टर शिन्दे पर परख रहा हूं जो विवाह की इल्लत से आजाद हैं, पर घर में 'हंसी-खुशी' और 'आना-जाना' बरकरार है। एक और उसूल यह भी है कि स्वेटर बुनते समय या धोते समय हाथ ढीला रखें। इससे बुनाई निखरी रहती है। शिन्दे साहब समझदार हैं, हाथ ढीला रखते हैं।

कुल मिलाकर, सलाई पर जन्म लेता हुआ कोई स्वेटर, कोई बाबा-सूट एक जिन्दगी है, जिसके फंदे घटते-बढ़ते हैं, डिजाइनें उभरती हैं, और सुख-दुख के दोनों पल्ले पूरे होकर यह जिन्दगी गले लग जाती है। आपको स्वेटर योजना शुभ हो, सुन्दर हो, यही कामना है, बस।

मुटाते रहने का जनतांत्रिक अधिकार

आदमी को अगर भूखे रहकर ३६ वर्ष की आजादी का कर्ज न चुकाना पड़े, तो मोटे होना एक अच्छा शौक है। मुझे मोटे और भारी-भरकम लोग काफी पसंद हैं। ये देश की सम्पन्नता और विदेश के कर्ज का प्रतीक हैं। कुर्ते-धोती में कोई भारी-भरकम आदमी चला जा रहा होता है तो खुशी होती है देखकर। देश की भुखमरी और गरीबी का दर्द मिट जाता है। तसल्ली होती है कि चलो कुछ लोग तो ऐसे हैं जिन्हें नमूने के तौर पर दिखाकर हम विदेशों के सामने अपनी छवि, अपनी इमेज कायम रख सकते हैं।... हर मोटी तोंद अपने-आपमें एक सम्पूर्ण सरकारी योजना नजर आती है। हर चर्बी चढ़ा शरीर अपने-आपमें एक आंकड़ा है कि मौलाना आजाद से शुरू होकर आज के अन्तुले और आदिकों तक देश कहां से कहां जा पहुंचा है। महात्मा गांधी के दुबले शरीर का युग अब बीत गया। हर वतनपरस्त को पहले अब अपने वजन की चिन्ता होती है... फिर देश और गणतंत्र के वजन की। शुभ लक्षण है !...

खैर, अब आप मेरे साथ जरा देर को डेनमार्क चलो। वहां की महिलाओं ने एक आंदोलन छेड़ रखा है और उनकी मांग है कि मोटा होना उनका अधिकार है। दुबले होने के नुस्खों से और पतलेपन को ही हुस्न मानने से इन महिलाओं को नफरत है। पुरुष के दुबलेपन की चाहत के फलस्वरूप ही नारियां डायटिंग शुरू करती हैं... वजन घटाती हैं। यह गलत है। उनका कहना है मांसल और डबल शरीर वाली महिलाएं ही सही अर्थों में सुन्दर हैं। जब तक शरीर में गोश्त न हो सारी ब्यूटी दो कौड़ी की।... उनका एक पक्ष यह भी है कि शरीर जोरदार होने पर ही वे पुरुष

से ज्यादती का बदला ले सकती हैं और वक्त जरूरत मर्द को उठाकर खिड़की से बाहर भी फेंक सकती हैं। मैं व्यक्तिगत रूप से, पुरुष होते हुए भी डैनमार्क की इन महिलाओं के पक्ष में हूं। हालांकि मैं खुद भी बेहद सींक सलाई हूं, और पत्नी का यह हाल है कि दुबलेपन के कारण अंधेरे में नजर ही नहीं आती। फिर भी मुझे मोटापा पसंद है।

अपने देश की दीगर अच्छी बातों के अलावा यह भी एक अच्छी बात है कि आदमी को मोटे होते देर नहीं लगती। तिकड़मबाजी की एक गोट सीधी बैठ जाए और बस। आदमी धारावाहिक रूप से मोटा होने लगता है...सुख-सुविधाओं के फलस्वरूप पत्नी फूलने-फलने लगती है और बच्चे सीधे अंग्रेजी कानवेंट स्कूल में भरती होकर आराम से अंग्रेजी गालियां तथा सैक्स और क्राइम सीखने लगते हैं। मेरी नजरों के सामने से ही कई ऐसे गुजरे हैं जिन्हें दो वक्त की रोटी मुहाल थी। पढ़ाई और योग्यता के नाम पर स्कूल का दरवाजा नहीं देखा था। फिर एक लहर आई और उन्हें बहाकर किसी नेता के चरणों में ले गई। चुपचाप खादी में जा घुसे...जय बोलना सीख गये...आत्मा और आचरण को नाबदान में जा फेंका...और शरीर का क्षेत्रफल फूलने लगा। सूखी संट घरवाली भी डबल हो गई और बर्तन-पोंछा करने वाले जनाने हाथ उद्घाटन का फीता काटने लगे। श्रीमती को 'लेडी' बनने में कोई देर नहीं लगी। संस्कार कमबख्त झाड़ू-पोंछे वाले ही रहे, मगर मुकद्दर आसमान पर चढ़ गया। पिया जी झूठ-फरेब की मक्खन-डबलरोटी खाने लगे और लेडी जी की आलमारियां साड़ियों और सैंडलों से भर गईं। गगुंआ से गंगाराम जी होते देर नहीं लगती इस देश में। मोटापा चढ़ता है तो फिर सीमाएं नहीं देखता। दूसरों के सीनों पर पांव रखकर हासिल की गई सम्पन्नता पेट के आकार को कहीं से कहीं पहुंचा देती है। आंखों पर चढ़ी हुई चर्बी इन्सान की पहचान भुला देती है। मुटापे और सम्पन्नता का यह सर्कस छत्तीस साल से चल रहा है अपनी इस सुजलां-सुफलां भारत भूमि पर।...

कुछ लोग मुटाते-मुटाते ब्लड प्रेशर का शिकार हो जाते हैं। आजादी के बाद यह एक शानदार बीमारी पैदा हुई है इस देश में...ब्लड प्रेशर कहां से होगा? जिस ब्लड में प्रेशर होता है वह सूखी रोटी और पतली

दाल से पैदा नहीं होता। उसके लिए चाहिए मुर्ग, तरमाल और देश की योजनाओं तथा राष्ट्र के पैसे का खून। यह सब माल अन्दर जाते ही ब्लड पैदा करता है...प्रेशर पैदा करता है...मोटापा पैदा करता है। सिर्फ मुटापा और ब्लड प्रेशर देखकर ही आप यह अंदाजा लगा सकते हैं कि इन हजरत ने कितनी देशसेवा की है। हमारा राष्ट्र कोई यों ही फोकट में मजबूत नहीं हो गया है। इसमें हजारों लोगों के मुटापे और करोड़ों लोगों की भूख का योगदान है। भूख और मुटापा एक-दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरे का कोई अर्थ नहीं। एक किस्म का देशव्यापी नारा बनता है—'तुम मुझे मोटापा दो...मैं तुम्हें भूख दूंगा।'

मैं आपसे पहले भी अर्ज कर चुका हूं कि मुझे मुटापे से...मोटे लोगों से प्यार है। आदमी का प्यार उसी चीज के लिए बढ़ता है जो उसके पास नहीं होती। मेरे पास न देशभक्ति है, न देश की चिन्ता। मुटापा आयेगा कहां से? खून पर खून...फसाद पर फसाद बढ़ते चले जा रहे हैं मगर जो गोल-मटोल हैं...संसार के ग्लोब जैसे...वे टुन्न पड़े हैं। मस्त...अपने मुटापे का सुख और यश भोगते हुए। दिलों के दर्द की किताब कभी पढ़ी ही नहीं। बकौल 'अदम' गोंडवी:

जुल्फ, अंगड़ाई, तबस्सुम, चांद, आईना, गुलाब,
भुखमरी के मोर्चे पर ढल गया इनका शबाब।
पेट के भूगोल में उलझा हुआ है आदमी,
इस अहद में किसको फुरसत है पढ़े दिल की किताब।

न्यूटन, आइंस्टीन और अप्पाराव बेचारे

वे पांचों-छहों लगभग रो पड़ने की मुद्रा में कमर कसे बैठे थे, कोई छेड़े और रो पड़े। बीच में एक मलगुजा-सा पुराना पोस्टकार्ड रखा था... कोना फटा हुआ। मैं समझ गया कि किसी के दुनिया से खर्च हो जाने की खबर आयी है। खामखाह अपनी भी आंखें जबरदस्ती नम करते हुए मैंने पूछा, "बड़ा अफसोस हुआ, कौन थे?"

"हमारे दादा जी," साठ-पैंसठ के फेटे में आ चुके एक बुजुर्ग ने कहा।

"अ...आपके दादा जी...अभी तक जिंदा थे क्या?"

"हम भी यही समझते थे कि मर-खप चुके होंगे, मगर इत्तला तो अब मिली है न। खबर आने से पहले कैसे रो लें," दूसरे ने कहा।

अब किस्सा पता लगा कि पोस्टकार्ड पर रवानगी की तारीख दस वर्ष पहले की है और जाने कहां-कहां, नगरी-नगरी, द्वारे-द्वारे भटकता हुआ अब मौसूल हुआ है। दसेक साल का एक बच्चा भी इस मातम में शरीक था। मैंने सोचा कि हो सकता है, यह बच्चा ही मरहूम दादा जी हो और पुनर्जन्म लेकर खुद अपने ही स्यापे में शरीक होने आ गया हो।

वे सब शुक्रगुजार थे कि डाक महकमे में थोड़ी-बहुत देर भले ही हो, अंधेर नहीं है। पोस्टकार्ड पहुंचाकर ही दम लेते है। बाकी कसूर दादा जी का है कि मरने में जल्दबाजी कर गये। सरकारी काम में ऐसी जल्दबाजी नहीं होती कि इधर एक मरा, उधर अगले रो पड़े। धीरे-धीरे, पइयां-पइयां चलकर इत्मीनान से खबर पहुंचाते हैं कि वंस अपॉन ए टाइम आपके एक दादा जी हुआ करते थे, जो इतने साल कब्ल फलां-फलां तारीख को स्वर्गवासी हो गये। अब आप मुनासिब समझो, तो रोओ-पीटो,

वरना मौत को बासी समझकर टाल जाओ।

पोस्ट आफिसों के इस हमदर्दाना नजरिये का मैं बेहद कायल हूं। अब यहीं पर आदमी को ज्योतिष विद्या की जरूरत आन पड़ती है। यह तय है कि पोस्टकार्ड अपनी गति से ही चलेगा। चुनांचे आदमी अपनी गत पहले से पता कर ले। एक बार किसी अच्छे नजूमी से पता कर ले कि जिंदगी की फाइल कब क्लोज होनी है। बस, वक्त रहते आठ-नौ साल पहले पोस्टकार्ड रवाना करना शुरू कर दे कि जब तक यह आपको नसीब होगा, मैं बदनसीब गुजर चुका होऊंगा...

पोस्ट ऑफिसों का अपना जीवन-दर्शन है। एकदम निर्लिप्त। समय और काल की सीमाओं से परे। भारतीय रेलों के दर्शन का अनुसरण करता हुआ। हरचंद टाइमटेबुल छपा है कि थ्री अप बंबई मेल... इलाहाबाद...दस पैंतालिस...पर मगर नहीं, नहीं चलना है छपे-छपाये ढर्रे पर। हर घंटे घोषणा होती है कि अब और डेढ़ घंटा लेट हो गयी। यहीं पर मैथमेटिक्स घुटने टेक देता है। एक घंटे में डेढ़ घंटा लेट हो जाने का सिद्धांत न्यूटन और आइंस्टीन के पितामह भी हल नहीं कर सकते।

सौ किलोमीटर की दूरी दस वर्ष में तय करने वाला पोस्टकार्ड न्यूटन के कौन-से 'लॉ ऑफ मोशन' के अंतर्गत आता है? मेरी फिजिक्स कमजोर थी। आपकी मजबूत हो तो फार्मूला बिठाओ। मेरे मित्र अकसर मेरे मुंह पर तमाचा जैसा मारते हैं कि तुम्हारी रेलवेज में रेलों की चाल से ज्यादा तेज गति तो मंत्री बदलने की है। गाड़ी नागपुर से चली तो मंत्री कोई और था, दिल्ली में दाखिल हुई तो कोई और था कुर्सी पर।

मैं झुंझलाकर अपनी सारी झार पोस्ट आफिस पर उतारता हूं। पोस्ट आफिस वाले बैक ड्राइव करके मेरी झार मुझे वापस कर देते हैं कि जब आपकी रेल ही ढीली है, तो चिट्ठी जायेगी तो आर० एम० एस० से ही। कुल मिलाकर चिट्ठी वहीं की वहीं पड़ी रह जाती है, जहां थी। लेटरबाक्स की तख्ती भी समय की सीमाओं से ऊपर है। डब्बे पर लिखा है—नेक्सट क्लीयरेंस सिक्सटीन आवर्स...यानी शाम चार बजे (घड़ी में सोलह सिर्फ रेलवे और पोस्ट आफिस में ही बजते हैं)।

अब आप अगर तीन दिन बाद भी उस लेटरबाक्स विशेष में झांको,

तो चिट्ठी कबीर की चदरिया जैसी बैसी की वैसी ही डब्बे के पेट में नजर आयेगी। क्यों? क्योंकि किसी भी लेटरबाक्स की तख्ती पर यह नहीं लिखा रहता कि किस तारीख को सोलह बजे खुलेगी। इसे कहते हैं अंग्रेजी में, 'सेफ साइड' (हिंदी आप बना लो)। ऐसे कुछेक आरामदेह लेटरबाक्स मेरे नगर में भी हैं, जिनसे बचकर निकल जाने में ही भलाई है। जिन्हें लेटरबाक्सों की अस्मिता पर विश्वास है वे चुपचाप इसी में डाल देते हैं, 'जा...जब मर्जी हो तब पहुंच।'

मैंने अपनी चंद गैर जरूरी चिट्ठियां इन्हीं लेटर बाक्सों में डाल दी हैं।

उधर पुणे में कोई एक सज्जन हैं, जिनके बारे में छपा था कि बंबई से भेजा गया एक पोस्टकार्ड उन्हें तेईस वर्ष बाद मिला। अर्थात् जवानी की सलामती की दुआएं, उन्हें बुढ़ापे में मिलीं। लोग ले उड़े कि हाय, तेईस वर्ष बाद! यही डाक की रफ्तार है! मैं असहमत हूं। इस ईमानदारी पर किसी ने सजदा पेश नहीं किया कि पोस्टकार्ड खैरियत से मिल तो गया। जिस बच्चे की पैदाइश की खबर पुणे के अप्पा राव को भेजी गयी थी वह बच्चा खुद दो बच्चों का बाप हो चुका था। अलबत्ता बदनसीबी अप्पा राव की कहिए कि इस पोस्टकार्ड के इंतजार में (शायद) तेईस वर्ष अतिरिक्त जिंदा रहना पड़ा।

वह यों कनफर्म होता है (खबर से) कि इस द्रुतगामी पोस्टकार्ड की आमद के अगले दिन ही अप्पा राव की रवानगी हो गयी। यहीं पर मुझे बिला वजह फिर न्यूटन और आइंस्टीन की याद आ जाती है। अप्पा राव की भी। इन पांचों को यानी उपरोक्त तीन, तथा भारतीय रेलों और डाकखानों को साथ रखकर, फिजिक्स के पुराने फार्मूलों को रद्द कर देने की जरूरत है। वक्त आ पहुंचा है कि भौतिकी के कुछ विशेषज्ञ तथा रेल और डाकखाने के एक्सपर्टान हजरात साथ बैठकर गति की नयी रूपरेखा, नये सिद्धांत तैयार करें।

इससे आनेवाले छात्रों को भी सहूलियत रहेगी। मसलन पहले सवाल आते थे कि एक रेलगाड़ी एक सौ दस किलोमीटर प्रति घंटा की रफ्तार से चलती है और पोस्टकार्ड अड़तालीस घंटों में पहुंचता है, तो दिल्ली से रतलाम की दूरी बताओ। आज का छात्र बौखला उठता है। रेल, एक सौ

दस किलोमीटर प्रति घंटा? पोस्टकार्ड अड़तालीस घंटे में? क्यों घिस रहे हो, मास्साब? अड़तालीस घंटों में लेटरबाक्स से निकल जाये तो गनीमत।

बहरलाल मेरा यह सजेशन रेल और डाकवाले अन्यथा न लें। मेरी दिलचस्पी न्यूटन और आइंस्टीन में भी है। मैं नहीं चाहता कि समय और गति को लेकर उनके सिद्धांतों की खिल्ली उड़े। आप अपनी रेल और डाक की स्पीड यों ही बरकरार रखो। गति के सिद्धांत ही बदल देना बेहतर होगा। इस नयी योजना में मैं बराबर शरीक हूं। जब जरूरत पड़े बुलवा लो आप।

जिस पलड़े पर तुले मोहब्बत

वह क्या है कि जिन मनहूस दिनों मैं जवान हुआ था, और तलवार वगैरा बांधकर घोड़ीनशीन होते हुए वीरगति को प्राप्त हुआ था, वह बड़ा थर्ड क्लास टाइम था। सस्ते, मजबूत और टिकाऊ दुल्हे कौड़ियों के मोल बिक जाते थे। अखबारों में विज्ञापन भी नहीं निकालते थे कि डावरी-रहित दुल्हन चाहिए (जिसे अन्ततः डावरी सहित ही कबुल किया जाता है)। न दूल्हे का वजन तौला जाता था, न दुल्हन का। एक से एक तरबूजनुमा के साथ कनक छरी-सी कामिनी व्याह दी जाती थी। या एक से एक शिला-खण्ड के साथ कान खोदने की सलाई जैसा दूल्हा चिपका दिया जाता था। 'प्रोपोर्शन' शब्द उन दिनों विवाह की डिक्शनरी में नहीं आया था। खैर, ...अब तरक्की हुई है और तौल-नाप की अहमियत को समझा जा रहा है। दुल्हिन का वजन साथ में टी॰ वी॰, फ्रिज वगैरा बांधकर पुश कर देते हैं।

इधर एक समाचार बांच कर जिया जो है, वह स्पंज जैसा गद्‌गद हो गया। शादी दे अल्ला तो ऐसी...चाहे पांच-सात बरस रुककर हो। राजस्थान में एक कबीले की महिला शादी के बाद अपने प्रेमी के साथ भाग गई। मरहबा! दुल्हन वही, जो भागकर दिखाए। इससे पहले कि मामला पुलिस के कर-कमलों तक पहुंचे, महिला के पति ने शर्त रखी कि यदि उसका प्रेमी प्रति किलो वज़न के एक हजार देने को तय्यार हो, तो वह अपनी बीवी को उसके साथ जाने देगा। (साथ में टिकट लगी हुई रसीद कि हां, बीवी फरोख्त की और रकम वसूल पाई।) बस जी, इसे कहते हैं इश्क कि महिला तड़ से ढाई कपड़ों में तराजू पर बैठ गई। कांटा रुका

पचास किलो पर। प्रेमी ने तुरत पे कर दिए पचास हजार और माल पैक करके उठवा लिया। खबर पढ़ ली कहीं मिर्जा ने और जूतियां बगल में दाबे फुल स्पीड भागे। मेरे कमरे में ब्रेक लगाया और खबर मेरी आंखों पर झोंककर हांफते हुए बोले, "कोई कांटा या तराजू हैगी?" मैंने चिकोटी काटी, 'भाभी जान का प्रेमी बाहर खड़ा है क्या?' मिर्जा ने गुस्से में अपने मुंह के बचे-खुचे दांत पीसे और बोले, "लपझप मैं कम पसन्द करता हूं। जितना ब्रीफ पूछूं, उतना ही ब्रीफ जवाब दो। तराजू हैगी, या मैं बुर्का डालकर बेगम को लकड़ी की टाल पे ले जाऊं? मुझे जरा उसकी वेल्यू का वह करना है...वह क्या कहते हैं...हां, असेसमेण्ट। देखना यह हैगा कि शादी के पच्चीस साल बाद भी भूतपूर्व हसीना की क्या कीमत है? बीस परसेण्ट की छूट देकर भी निकाल दू, तो तौलने पर कितनी करेन्सी और कितनी रेजगारी हाथ आएगी?"

मैंने लपककर मिर्जा का टेंटुआ दबोच लिया। मगर सांस खुद मेरे गले में फंस रही थी, "मिरजे, मैं मंगल के दिन हाथ आए मच्छर को भी रिहा कर देता हूं। वरना आज तेरे नाप का रेडीमेड कफन निकलवा देता। तेरी यह मजाल कि मेरी भाभी को तराजू पर बिठा के तौले? तेरी शर्म-हया आखिर किस बैंक में जमा है और पास-बुक का नम्बर क्या है? इससे पहले मैं तुझे ही अपनी पैण्ट की बेल्ट से बांधकर सीलिंग फैन पर तौल देता हूं।..."

मिर्जा धीरे से दाढ़ी खुजलाकर मुस्कराया और बोला, "उबाल मत खा, मेरे लाल! काश तूने अंग्रेजी किंग रीडर के कुछ आगे पढ़ी होती तो 'डिस्पोजल' और 'असेसमेण्ट' के बीच का फर्क समझ जाता। तेरी कसम, मुझे बोरी बेचनी नहीं है। बस, कीमत का असेसमेण्ट करना है कि हां, हम भी पैंतालिस किलो वजन की बीवी रखते हैं, जिसकी कीमत डिस्काउण्ट काटकर भी हजारों में बनती है। आखिर तुलवा लेने में हर्ज क्या है? हेल्थ का भी अन्दाजा हो जाएगा और चुपके से कीमत भी केलक्यूलेट कर लेंगे।... लगे हाथों तू मेरी भाभी को भी तराजू पर रख दे। इसमें बेइज्जती क्या है? मुल्क का एक से एक रहनुमा भद से तराजू पर बैठ जाता है और सिक्कों, रेजगारी या फलों से तुल जाता है। बाद में उसे कोई

बेच थोड़ा ही देते हैं। तेरी कसम, तू भी अगर कुछ हुआ होता किसी पार्टी-पूर्टी में तो मैं वह पहला शख्स होता, जो तुझे पुरानी प्लास्टिक, फटी चप्पलों और टूटी बोतलों के बराबर तौल देता !"

"मेरी बात दीगर है, मिर्जा। कुछेक को छोड़कर इस देश का लेखक यों भी टूटी बोतल का ही हमवजन होता है। मगर तुझे मेरी भाभी का अपमान करने का कोई हक नहीं, जो तुझ जैसे लीचड़ को भी बना-संवार-कर खिलौना बनाए रखती है। यही इज्जत है उस पाकीजा की तेरी नजरों में ? अन्धे को अपनी झोली में आईना जो मिल गया है...इसीलिए ?"

मिर्जा की आंखों में नमी तैर गई। मजाक के बादल छंट गए। गीले गले से बोला, "धत्। तेरी और मेरे छोटे वाले लौंडे शब्बीर की बुद्धि एक जैसी। बस, जरा आंच दिखाई और उबाले खा गया। औरत की अजमत मिर्जा की गरीबी भी खूब जानती है। मगर ऐसी-वैसी खबरें पढ़-कर मन कसैला हो जाता है...और इस कसैलेपन को मैं हंसी के रैपर में लपेटना चाहता हूं। कभी-कभी लगता है यार, कि औरत होना कितनी बड़ी सजा है। तोलने के लिए न जाने कितनी अदृश्य तराजुएं हर तरफ झूलती रहती हैं। उसके उदास चेहरों के गुलाब कराहते हैं, मगर आवाजें नहीं होतीं। मर्द यह समझता है कि हर औरत एक जला हुआ कोयला है जो थोड़ी-सी तपिश पाकर लहक उठेगा। खुदा का यही शुक्र क्या कम है कि मेरा एक दोस्त है, जो औरत की अजमत को समझता है...खुदा हाफिज।"

मिर्जा चुपचाप बाहर चला गया। उसका ठिठुरापन देखकर मुझे अमृता प्रीतम के शब्द याद आ रहे थे, "सभ्यता का युग तो तब आएगा जब औरत की मर्जी के बगैर कोई उसका नाम भी होंठों तक न ला सकेगा।"

मैं यानी लगभग कालिदास

वह क्या है कि ज्योतिष और तंत्र-मंत्र के प्रति मेरे में काफी परसेण्ट आस्था है...मगर दिल टूट चुका है।...मेरे सारे अकादमी और ज्ञानपीठ पुरस्कार रुके पड़े हैं।...आदमी कालिदास बनते-बनते किस तरह सिर्फ के० पी० सक्सेना रह जाता है, आप मुझे देखें।...वही सितारे, वही ग्रह, वही नक्षत्र कालिदास के...वही मेरे। सिर्फ फर्क रह गया तो एक बीवी का। ठहरिए। अपनी व्यथा-कथा आपको विस्तार से सुनाता हूं। सरकार चाहे तो मेरे दुख-दर्द पर एक जांच कमीशन बिठा सकती है ! साहित्यकारों की भी आंखें भर आयेंगी कि एक के० पी० कालिदास होते-होते रह गया।...

उज्जैन के एक प्रसिद्ध ज्योतिष शास्त्री का दावा है कि शनि की महा दशा में विवाह होने के कारण ही कालिदास कालिदास बने···(वरना शायद गुलशन नन्दा रह जाते।) शादी मेरी भी हुई, और बाकायदा एक अदद समझदार कन्या से हुई। मगर हाय, उस समय शनि की महादशा नहीं थी। जाने कौन-सी घटिया दशा थी, जो मुझे आज इस दशा में छोड़ गई। पहले से पता होता तो शनि की महादशा आने तक मैं सेहरा पहने बैठा रहता...शादी ही न करता। मगर मुकद्दर का पोरस जो ठहरा मैं। शास्त्री जी ने कालिदास की जन्म कुंडली देखकर बताया है कि महाकवि विवाह के बाद ही दनादन तरक्की करते चले गये।...मेरा और कालिदास दोनों का जन्म आषाढ़ प्रतिपदा के दिन हुआ। दोनों के पराक्रम स्थान में मंगल था।...यहां तक हम दोनों पैरेलल चले, मगर बाद में विवाह उनके भाग्य की लाटरी खोल गया...मेरा विवाह मुझे चौपट कर गया...वरना

यह रचना आज आप संस्कृत में कालिदास के नाम से पढ़ रहे होते न? जंगल में उनकी भेंट सेनापति से हुई, जो उन्हें मगध ले गया और वहां मगध की राजकुमारी विद्योत्तमा से उनका विवाह हुआ। तत्पश्चात् एक पुत्र...फिर झगड़ा...कालिदास फैमिली छोड़कर चले गए। बाद में जो कुछ लिखा वह सब आपको मालूम है।...मेरे साथ यही सबकुछ गड़बड़ हो गई। न जंगल हुआ, न सेनापति! सीधे-सीधे एक क्लर्क कन्या से विवाह हो गया...तत्पश्चात् एक पुत्री। मैं फैमिली छोड़कर पश्चिम दिशा को जाने को रेडी था, मगर अगलों ने यह कहकर रोक दिया कि ठहरो...तुम्हारा विवाह शनि की महादशा में नहीं हुआ है। खामखाह घर छोड़ने पर राशन कार्ड से नाम कट जाएगा और सरकारी फ्लैट का अलाटमेंट भी कैन्सिल हो जाएगा। मैं रुक गया।...आदमी राशन कार्ड और फ्लैट के आगे फ्लैट होकर रह जाता है...कालिदास नहीं बन पाता। मुझे उम्मीद है कि मेरा दुख-भरा अतीत सुनकर आपकी आंखों में भी एकाध आंसू आ गए होंगे। मेरी बीवी ने मुझे अलग से लताड़ दिया कि चुपचाप रेलवे में स्टेशन मास्टरी करते रहो। तुम्हारे जैसे कितने आधुनिक कालिदास जूतियां चटकाते घूम रहे हैं।...मैं चुप रहा गया। मेघ आते-जाते रहे, मैं क्वार्टर की खिड़की में बैठा रहा। मेघों को समझा दिया कि जाओ यार...वापस जाओ। जिस देश की पोस्टल व्यवस्था के अन्तर्गत एक पोस्ट कार्ड महीने-भर में पहुंचता हो, वहां मेघदूत क्या कर सकता है? कई-कई 'शकुन्तलाओं' से मेरा परिचय हुआ, मगर सब अड़ोस-पड़ोस के मुहल्लों में ब्याह कर बाल-बच्चेदार हो गई। 'कुमारसम्भव' नाम के कई मिले...जो बाद में या तो एम० एल० ए० हो गए या किसी एम० एल० ए० की दुम से लगकर अपना भविष्य संवारने लगे।...मैं अकेला रह गया।...इतनी ढेर सारी ट्रेजडी के बावजूद, मुझे सुख है कि मेरा विवाह शनि की महादशा में नहीं हुआ...मैं कालिदास नहीं बना! बन जाता तो आज के लोकतांत्रिक 'राजा-महाराजाओं' के बीच मेरी क्या-क्या दुर्दशा होती! किस-किसकी जूतियां चाटता फिरता मैं—कालिदास हूं...मुझे एवार्ड दिलवा दो...मेरी किताबें कोर्स में लगवा दो? आज अगर औरिजनल कालिदास भी जिन्दा होता तो उसकी कृतियां कोई

पाकेट बुक में भी नहीं छापता। अन्ततः कालिदास मर गया होता और उसे 'अमिताभ बच्चन की जीवनी' या 'अंधेरे में जवानी' जैसे नंगे उपन्यास लिखने पड़ते? अपनी आत्मा बेचकर राजनीतिक पार्टियों की प्रशस्ति लिखनी पड़ती...तब कहीं अपना और विद्योत्तमा का पेट भर पाता। इधर यह भी अच्छा हुआ कि मैं कालिदास नहीं हुआ। आज व्यंग लेखक के नाते देश-भर जानता है। संस्कृत महाकाव्य ले बैठता तो तन को धोती और दाढ़ी को ब्लेड तक नसीब नहीं होती।...मैंने अपने दिल को तसल्ली दे रखी है। आपमें से भी जिस-जिसका लेखन चल पड़ा है, यही कोशिश करें कि विवाह की दुर्घटना शनि की महादशा में न हो। वरना कालिदास बनकर भूखे मरने की संभावना है इस सांस्कृतिक देश में।...अब आज जो हमारे युग के तथाकथित 'कालिदास' हैं, उनकी जीवनी में झांकिए जरा।...सारे एवार्डों और अलंकारों के पीछे राजनीति की हथेली पीठ पर है।...जिस-जिसने ईमानदारी से कालिदास बनने की कोशिश की वह रोटियों की भूख पर जाकर टूट गया और किसी न किसी आधुनिक 'राजा' के हाथों बिक गया। कालिदासों का अन्त यहीं पर आकर होता है। बकौल शायर:

जरूरतों के अंधेरों में डूब जाती हैं।
न जाने कितनी जमीनें, जो आस्मां होतीं॥

खामोश ! वे शौक पूरा कर रहे हैं

आप किसीको अपने वोट के माध्यम से भले ही गद्दी से उतार दो...पर किसीके शौक पर अंगुली नहीं उठा सकते। मसलन, मुझे पान खाने का शौक है...आप मुझसे कभी भी मिलो, मैं बात नहीं कर पाऊंगा...हां...हूं करता रहूंगा। इसलिए नहीं कि मैं घमण्डी या नकचढ़ा हूं, बल्कि इसलिए कि मुंह में पान भरा है। बोलने की कोशिश करूं तो मुंह में भरा सुर्ख रस मेरे कुर्ते पर पंजाब के उग्रवादियों द्वारा बहाए गए खून जैसा टपक पड़ेगा।... कुछ लोगों को देश को खाने का शौक होता है। धीरे-धीरे प्रगति के नाम पर सड़कें, पुल, नहरें और इमारतें खाते रहते हैं। सरकारी कागज साफ रहते हैं और खुराक पेट में पहुंचती रहती है। धीरे-धीरे बजट खोखला होता जाता है और देश की दीमक देश को खाती रहती है। यहां पर मैं व्यक्तिगत रूप से किसीके खिलाफ नहीं हूं। आदिक हों या अन्तुले... ब्रह्मचारी हों या सदाचारी...सबकी जय बोलना मेरा धर्म है। कभी-कभी मुझे 'जय' बोलने में तकलीफ होती है...मुंह में पान जो रहता है। 'जय' निकल ही नहीं पाती। अपने-अपने शौक हैं खाने के ! जिसकी जैसी हैसियत हो, शौक पूरा किए बिना नहीं मानता।

बात यों चली थी कि महाराष्ट्र में एक नौजवान है, श्री धनंजय दिगम्बर जैन। इनका खाने-पीने का शौक अलग है। रिकार्ड स्थापित करने पर तुले हैं। साढ़े चार घण्टों में एक सौ चौरानवें कप चाय पी गये...एक बार में पचपन नींद की गोलियां गटक लीं...पांच मिनट में पचास सिगरेटें पी डालीं। और न जाने क्या-क्या अनाप-शनाप खाकर खबरों में आ गए।... अब अपन सोच रहे हैं कि खुदा-न-खास्ता अगर यह लड़का कहीं किसी

प्रदेश का नेता या मंत्री होता तो अब तक शायद आधा प्रदेश ही खा गया होता। किसी ट्रस्ट का चेयरमैन होता तो समूचा ट्रस्ट ही 'राम नाम सत्य है' कर गया होता। कहीं ठेकेदार या इन्जीनियर होता तो पूरा पुल मय नदी के पेट में समा गया होता। शौक की बात है...आप इसपर कोई एतराज नहीं उठा सकते। आजादी के इन छत्तीस वर्षों में एक से एक ऊंचे शौक पूरे किये हैं श्रद्धालु जनों ने। जो बकाया डाकू थे, उन्होंने पहले लूटा-खसूटा...लाशें बिछाईं...फिर समर्पण के सहारे में माला पहनकर, फोटो खिंचाकर, देश के सच्चे वी० आई० पी० होने का शौक पूरा कर लिया। जो बाकायदा डाकू नहीं थे, उन्होंने मुस्कराहट, देश भक्ति, योगासन और संन्यास की आड़ में शौक पूरे किये।...हमारे यहां यही एक अच्छाई और सुविधा है कि 'जाकी रही भावना जैसी' के अन्तर्गत अपने-अपने शौक पूरे कर लेते हैं।...जो देश पिछड़े हुए और गरीब हैं, वहां अभी शौक पूरे करने की सुविधा उपलब्ध नहीं है। अर्थात् सारे जहां से अच्छा...।

मेरे एक मित्र को दूसरों को गाली देने का शौक है।...मन में किसी के प्रति द्वेष नहीं है...सिर्फ शौक है। जबान से पुलिस-पंथी हैं। बिना गाली बात नहीं कर सकते। मैंने एक दिन कारण पूछा तो एक महीन-सी गाली मुझे देकर बोले, "मैं किसी को कुछ देने योग्य नहीं हूं, तो गाली तो दे ही सकता हूं। कुछ देने की स्थिति में होता तो नारे, आश्वासन, सुनहरे ख्वाब, भविष्य की तस्वीरें, आचरण की सीख, देश-प्रेम की खोखली बातें वगैरा देता। तीन सौ तीस-पांच सौ पचास ग्रेड का क्लर्क कमबख्त भूखे पेट कुछ नहीं दे सकता, तो गाली ही देता है। आप बिगाड़ लो मेरा जो कुछ बिगाड़ना है !...मैं भला किसी का क्या बिगाड़ सकता हूं ?" अपना शौक पूरा करने के लिए मित्रवर ने मौसम को एक गाली दी...मैंने चुपचाप अपना शौक पूरा करने के लिए मुंह में पान रख लिया। दोनों ही अपनी-अपनी जगह खुश थे। शौक पूरा हुआ !...एक शौक होता है सिनेमाबाजी का। अर्थात्, पेट की रोटी बाद में, पहले अमिताभ बच्चन, जीनत अमान।...अमिताभ अमिताभ है...शौक-शौक है ! चाहे लहंगा-चोली पहनकर मेरे अंगने में...नाचे, या घूंसे मारकर दस-दस को अकेले फ्लैट कर दे...

अमिताभ होना चाहिए।...एक कोई फिल्म आई थी 'नदिया के पार', मैं चूंकि नदी और पानी से बहुत घबराता हूं, सो देखने गया ही नहीं। बाद में पढ़ा कि हमारे यू० पी० के ही कोई हजरत उन्तालीस बार देख आये, और चालीसवीं बार देखने से पहले ही हीरोइन (फिल्म में नाम गुजां) का नाम गुजां...गुजां रटते हुए अन्ततः श्री पागलखाने जाते भये ! जा ही नहीं रहे थे। पागलखाने के अधिकारियों ने कहा कि गुजां से मिलवाने ले जा रहे हैं तो तड़ से पागलों की गाड़ी में सवार हो गए।...इसे कहते हैं शौक ! इन श्री गुजां प्रेमी और उनके शौक को मेरा प्रणाम ! आई मौज फकीर की, दिया झोंपड़ा फूंक। जीते रहो, बादशाहो !

कुल मिलाकर, अपनी-अपनी हैसियत, अपने-अपने शौक। याद आया, मेरे शहर में एक साहब हैं जो कई बार बिला वजह जूते खा चुके हैं।

चाल-चलन के अच्छे हैं...बाल-बच्चेदार हैं...मगर इन्हें कमबख्त आंख मारने का शौक है। यह शौक अब मजबूरी बन गया है। अपने बाप से भी बात करते हैं तो धीरे से आंख मार देते हैं। इसी संदर्भ में प्रसिद्ध हास्य कवि भाई शैल चतुर्वेदी की एक कविता भी है, 'चल गई' मगर इन आंख मारने के शौकीन हजरत का कविता से कोई सम्बन्ध नहीं।

आप टेस्ट करना चाहो तो कभी भी लखनऊ आओ (अपने खर्च पर)...मैं आपको इनसे मिलवा दूंगा।...आपको नमस्ते यह बाद में करेंगे, पहले आंख मार देंगे।...बस भय्या, आदमी के शौक की कोई इन्तहा नहीं। बकौल शायर :

कोई हद ही नहीं शायद॥
मुहब्बत के फसाने की,
सुनाता जा रहा है
जिसको जितना याद आता है।

कन्या चढ़ी पहाड़ पर

इधर साडे यू० पी० विच एक बड़ी खुशी ते कमाल दी गल हो गई। मेरा चोला चक ते आत्मा जन-गण-मन हो गई। काश, मैंने पहले सोचा होता और बजाय पुरुष के कन्या बनकर पैदा हो गया होता तो यह कमाल मैं ही दिखाता ना। अब क्या हो सकता है जब चिड़िया चुग गई खेत और उम्र चुरा गई सिर के बाल। साफ-साफ पचास हजार रुपए हाथ से निकल गए...वह भी मुख्यमंत्री जी के हाथों से मिले हुए।

अब आप पूरा मामला सुनो। हुआ यों कि अपने उत्तर काशी जिले की एक कन्या कुमारी बचेंद्री पाल ने दुनिया की सबसे ऊंची पहाड़ी की चोटी, माउण्ट एवरेस्ट चढ़ ली। साथ में तीन नर सदस्य भी थे। बचेंद्री पाल भारत की पहली महिला हुई जिसने माउंट एवरेस्ट फतह कर ली। लो जी साहब, डंके बज गए। यू० पी० के मुख्यमंत्री पं० श्रीपति मिश्र जी ने तड़ से पचास हजार रुपए नकद बचेंद्री पाल को बतौर इनाम दिए। हालांकि मैंने न कभी माउंट एवरेस्ट देखा, न बिटिया बचेंद्री पाल को... पर तबीयत बाग-बाग हो गई...मन मुगल गार्डन हो गया। कन्या वह जो बहादुरी से पचास हजार रुपए घर ले आए। यह थोड़ा ही कि दहेज मे मां-बाप के 50 हजार खर्च करा दे...और फिर भी ससुराल वालों की नाराजगी पर फांसी का फंदा या स्टोव की लपट ढूंढ़ती फिरे।

बात पचास हजार की नहीं है। इस मुल्क में एक से एक हलकट और चालू आदमी पलक झपकते ही 50 हजार पैदा कर लेता है। रसीद भी नहीं देता और चेहरे से भोला-भाला देशभक्त बना रहता है। बात बहादुरी की है, इनाम की है, मुख्यमंत्री की उदारता की है। मैंने पहाड़ बहुत कम

देखे हैं। एवरेस्ट की सिर्फ फोटो ही देखी है। फोटो में ही एवरेस्ट की ऊंचाई देखकर डर लगता है। कहीं जूतो फिसल जाए तो शरीर एक सौ नब्बे हिस्सो में घर पहुंचाया जाए। नहीं साहब, मेरे बस का नहीं एवरेस्ट। यह सब बेवकूफियां लड़कियों को ही मुबारक। जिस आदमी को अपने मकान की छत से झांकते हुए डर लगता हो, उसका स्वर्गीय बाप भी एवरेस्ट नहीं चढ़ सकता। पचास हजार रुपयों के लिए मुझे अपनी हड्डियां नहीं तुड़वानी हैं। आम भारतीय की तरह चुपचाप दाल-रोटी खाकर पड़े रहो। इससे कोई मतलब नहीं कि अड़ोस-पड़ोस में धर्म और जाति के नाम पर लोग कैसे-कैसे पहाड़ फतह कर रहे हैं। जब वोट देने का नम्बर आएगा, चुपचाप लाइन में लग जाएंगे और जिसकी 'जय' सबसे अधिक बोली जा रही होगी उसी के नाम पर मोहर ठाप कर चले आएंगे। फर्ज पूरा हुआ देश के प्रति। इस देश का आम आदमी इससे अधिक सोच भी नहीं सकता।

कुमारी बचेंद्री ने नाम कमाया। पहाड़ पर चढ़ गई। उसका शौर्य है...बहादुरी है। वरना नाम कमाना कुछ मुश्किल नहीं है अपने इंडिया में। लड़कियों के लिए और भी आसान है। फिल्में हैं, फैशन है, राजनीति है, टी० वी० है, वीडियो है। बिना कोई पहाड़ फतह किए लड़की नाम कमा सकती है। मगर जिसमें हौसला है वह पूरी बहादुरी से नाम कमाता है...बेखौफ और निडर होकर। कितने ही पत्रकार हैं इस देश में, पैसा और शोहरत कमा लेते हैं। मगर वह कोई एक ही होता है जो जान देकर भी सच्चाई और निर्भीकता का झंडा झुकने नहीं देता। नंगों को नंगा कहने से गुरेज नहीं करता। जो वहशी और पागल हैं, उन्हें देशभक्त नहीं कहता। बचेंद्री-सी बहादुरी और रमेश-सी निर्भीकता कितनों में है? फर्क सिर्फ वक्त और मुकद्दर का है। बचेंद्री को इनाम मिला, रमेश को शहीद होना पड़ा। इज्जतदार आदमी की नजर में दोनों का सम्मान बराबर है। राजनीति की कठपुतली और उसके धागे इस फर्क को नहीं पहचानते।

बचेंद्री पाल के प्रति सारे देश का स्नेह है, आदर है। यही एक हिम्मत है जो लड़की को शान से लड़की बन कर जीने का हौसला प्रदान करती है। वरना तो लड़की होना बहुत बड़ी सजा है इस देश में। बचेंद्री पाल जैसी बहादुरी मुख्यमंत्री के लिए भी सराहनीय है। दे दिए पचास हजार।

वरना इस मुल्क में दस-पांच हजार भी आदमी को तभी मिलते हैं जब वह ट्रेन दुर्घटना में मर जाए, या डाकुओं के हाथों खर्च हो जाए। अब यहां पर मैं अपने देश की जय बोलना चाहता हूं। यह मेरा फर्ज है। दूसरे लोग चाहे तो अपने-अपने प्रदेश की बहादुरी पर जय बोल सकते हैं। विरोधाभासों की जीती-जागती तस्वीर हैं हम सब। एक ओर धर्म के नाम पर जिल्लत की गहराइयां, दूसरी ओर एक कन्या के हाथों एवरेस्ट की ऊंचाइयां?...शेर याद आता है :

एक ही घर में रहे, फिर भी पराए जैसा
साथ रह कर भी अलग चलते हैं, साए जैसे।

सुधा पाट [illegible] आढा
उर्धों की ट [illegible] बोध-
वाणी पुस्त [illegible] आपकी आचार-
संहिता के [illegible] बनें।

आपका तलाक

बधाई पत्रों के बारे में सोचता हूं कभी-कभी। कैसे-कैसे रंग-बिरंगे कागजी जूते ! सीधे तौर पर गाली न दी, बधाई पत्र भेज दिया कि आपकी कलम यशस्वी हो। लानत है मुझपर...और भेजने वालों पर। इनाम वे झाड़ रहे हैं जिन्हें मैंने चड्डी बांधना सिखाया...फोकट में वलाएं मेरी ली जा रही हैं कि आपकी कलम रसदार है। बधाइयों का मौसम आते ही मेरे कमरे में इन रंग-बिरंगी जूतियों का ढेर लग जाता है। मौसम न भी हो तब भी किसी न किसी बहाने एकाध जूती आ ही गिरती है बधाई की। इधर मैंने बेटी का विवाह किया। निचुड़ गया पूरी तरह। ऊपर से बधाई आई...(अच्छा हुआ आपकी जमा पूंजी घाट लग गई...अब बैठकर डंडे बजाओ।) धन्यवाद भेज देने के अलावा मैं कर भी क्या सकता था ? ...जिसने आंगन में बेरी लगाई है उसे पत्थर झेलने हैं। हर बेटी के बाप को खुसकैट हो जाने के बाद बधाई की चपतें झेलनी पड़ती हैं।...खैर।

बधाई पत्रों के नाना प्रकारीय जूतों में एक और इजाफा हुआ है। तलाक के बधाई पत्र। इस किस्म की भीगी-भीगी जूतियां अभी यूरोप में ही चली हैं। अपने इंडिया में फिलहाल तलाक ने सांस्कृतिक किस्म का जोर नहीं पकड़ा है। छुटकारा पाने के दीगर रास्ते भी मालूम हैं हमें। उधर यूरोप में तलाक का वही रोजमर्रा रुटीन है जैसा कि हमारे यहां लांड्री में कपड़े भेजने का है।...ले भई बीबी की क्रीज बिगड़ गई है...अब पहनने लायक नहीं रही। दूसरी नपवा लेंगे। या यह कि मियां में बुसांद आने लगी है। तलाक।...एक ठो दूसरा शोहर चाहिजे। दूसरा शोहर हाजिर।

आप अपने इंडिया में इतनी जल्दी पाजामे में नाड़ा नहीं डाल सकते, जितनी जल्दी उधर शौहर या बीवी बदल जाती है। एक ताजगी बनी रहती है। संबंधों का गर्द जमने ही नहीं देते। बस, इसी खुशी में तलाक के बधाई कार्ड...पुराना कूड़ा फेंकने के बाद नया कूड़ा आपको मुबारक हो।...तलाक के बधाई कार्डों की शुरुआत हुई एक तलाकशुदा महिला श्रीमती के० मनरो के हाथों।...टूटे संबंधों के इस कागजी जश्न का सिलसिला चल निकला।...जैसे-जैसे तलाक, वैसी-वैसी बधाइयां।...जरा इबारत देखिए, 'आघात पहुंचा।...' 'चैन की सांस मुबारक हो...' 'हमें यही उम्मीद थी', 'अगली दावत कब तक ?...' 'घबराना नहीं, हम हाजिर हैं।...' 'किस्मत ने दोबारा आपका साथ दिया है।...' 'नये शौहर में क्या योग्यताएं पसंद करेंगी।' वगैरा।

अब मुझे एक लोकल चिंता सवार हो गई है। यूरोप की आर्थिक मदद आने में भले ही देर लगे, मगर कल्चरल नकल आनन-फानन आ पहुंचती है।...कल को तलाक के इन बधाई कार्डों का सिलसिला अपने यहां चल निकला तो मेरी सांसत शर्तिया हो जाएगी ! लोग-बाग घेरे रहेंगे कि फलां-फलां मुक्त हो रहे हैं (या हो रही हैं)···कार्ड की एक मुनासिब इबारत लिख दीजिए...जरा जोरदार। इधर मेरे खानदान में कई पुश्तों तक किसी को तलाक का सुखद अनुभव नहीं हुआ। सबके सब जैसे-तैसे गुजार ले गए। मुझे खाक पता है कि तलाक देने या लेने के बाद कैसी-कैसी अनुभूति होती है ?···उधर लेखकीय सनक आड़े आएगी। हजार शब्दों का व्यंग्य लिख सकते हो···चार लाइनें तलाक की बधाई की नहीं लिख सकते ? दुर फिट्टे।···

अब उन्हें कौन समझाए कि ये बिरादर, अपने मुल्क में जितने व्यंग्यकार या व्यंग्यकारिनें हैं, इनमें से किसी को अभी तक तलाक की शीरनी नहीं हासिल हुई। या चिरकंवारे हैं (परसाई जैसे), या चिड़चिड़े शादीशुदा। वे जो व्यंग्यकारिनें हैं उन्हें अपने ही बाल-बच्चों के खांसी-खुर्रा, दस्त-बलगम से फुर्सत नहीं कि तलाक-तुलूक की सोचें। जाने लिख ही कैसे लेती हैं।···अब जिसे तलाक की स्पेलिंग हासिल करने की मोहलत नहीं, वे भला इबारत क्या लिखेंगी···या लिखेंगे। बाकी बचा मैं। सब

इधर ही दौड़ेंगे कि 'तलाक' उर्दू का लफ्ज है, और इस मरदूद की उर्दू जरा पुख्ता है···इसी से लिखवाओ तलाक की शुभकामनाएं।···भुस में आग लगाकर जमालो अलग खड़ी हो जाएगी और मैं दलबदल में ! इस मसले पर मैं अपनी बीवी से भी लेखकीय सलाह नहीं ले पाऊंगा कि तलाक की शुभकामनाओं में कैसी इबारत मुनासिब रहेगी ?···

बहरहाल, इंजीनियर वही जो पुल बनने से पहले ही उसके ढह जाने की तारीख तक का अंदाजा कर ले !···मुझे पहले से ही इस अभियान के लिए तैयार रहना है ! कुछेक इबारतें सोची भी हैं !···मसलन 'मुबारक ! पर अब अचार को धूप कौन दिखाएगा ?···' 'नए शौहर को सलाम··· पुराने के सूट की लांड्री रसीद शायद आपके पास है ?' 'पांच बच्चों का बराबर का बंटवारा ?' 'प्रभु आपको गणित की शक्ति दे !'···'तलाक की हार्दिक शुभकामनाएं !···नई बीवी जल्द लाइए ! पड़ोसिनें लड़ने को परेशान हैं !···' या 'तलाक मुबारक ! पर गैस का सिलिंडर किसके पास रहेगा ?'···वगैरा !

तलाक की बाबत और अधिक साहित्यिक ढंग से सोचना मेरे बूते से बाहर है !···शादी का कार्ड आप मुझसे उम्दा-उम्दा लिखवा लो ! पर तलाक की शुभकामनाएं···आप पहले मुझे वह मौका तो दिलवाओ कि मैं इस मंजिल से गुजरकर कुछ हसरतें निकाल सकूं !···बस, एक बार मैं यूरोपीय ढंग से दूसरी जगह हाथ पीले कर लूं। फिर देखो आपकी कैसे फटाफट तलाकीय शुभकामनाएं लिखता हूं !···पर मुकद्दर के पोहसों के ऐसे भाग्य कहां ? बादलों के गीत लिखो, और प्यासे मरो !···खैर ! जनहित में मैं इस नेक काम का अगुआ बनने को तैयार हूं !···जिस-जिस की भावी योजनाओं में एक अदद तलाक भी शामिल है, उसके 'तलाक शुभकामना कार्ड' के लिए मेरी निःशुल्क खिदमात हाजिर हैं। आदमी को भलाई का काम करने से गुरेज नहीं होना चाहिए !...